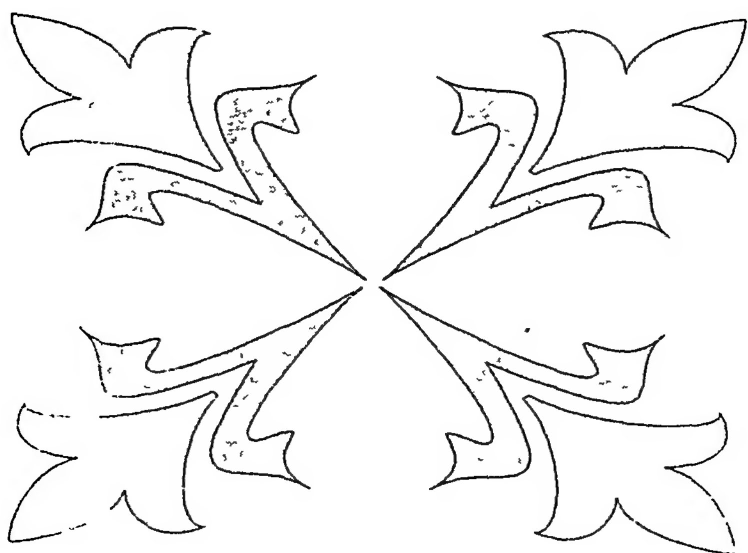
महावीर का अर्थशास्त्र

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

महावीर का अर्थशास्त्र

आचार्य महाप्रज्ञ



संपादक
मुनि धनंजयकुमार

स्वर्गीय श्रीमती घीसीबाई रांका (धर्मपत्नी श्री मोतीलाल एच० रांका) बगडीनगर (राजस्थान) की पुण्य स्मृति मे उनके सुपुत्र निर्मल नरेन्द्र एवं सुपुत्री उर्मिला, कोयम्बतूर के सौजन्य से प्रकाशित

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रवन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य : चालीस रुपये, प्रथम संस्करण · १९९४, मुद्रक : आर० के० भारद्वाज लेजर एवं ऑफसैट प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

Mahavir ka Arthashastraa by, Acharya Mahapragya, Rs 40 00

आशीर्वचन

ईस्वी सन् १९८७, अमेरीका का होनोलूलू शहर। हवाई विश्वविद्यालय शान्ति-संस्थान एवं डे वोन सा बौद्ध मंदिर के सयुक्त तत्वावधान मे सगोष्ठी का आयोजन। संगोष्ठी का विषय था — 'बौद्ध परिप्रेक्ष्य मे शान्ति।' पन्द्रह देशो के प्रतिनिधियो की उपस्थिति। हवाई विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डा० ग्लेन डी० पेज के विशेष आमंत्रण पर हमारे प्रतिनिधियो का एक दल वहां पहुँचा। संगोष्ठी मे एक प्रश्न आया कि अपरिग्रह के बारे मे बुद्ध ने कुछ कहा हो, ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता। इस सन्दर्भ मे महावीर की क्या अवधारणा रही है? वहाँ उपस्थित विद्वानो मे अधिसंख्य बौद्ध विद्वान् थे। सभवतः महावीर के दर्शन से वे पूरे परिचित नही थे। उस समय हमारे एक प्रतिनिधि खड़े होकर बोले — 'महावीर ने अपरिग्रह के बारे मे बहुत कहा है। उनका एक दृष्टिकोण यह रहा है — 'असविभागी न हु तस्स मोक्खो — जो अर्थ का संविभाग नही करता, विसर्जन नही करता, वह मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता।'

इस एक सूत्र से बौद्ध विद्वान् बहुत संतुष्ट हुए। सौका विश्व विद्यालय टोक्यो (जापान) के जो प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित थे, वे हमारे प्रतिनिधिदल को विशेष आग्रह के साथ जापान ले गए और वहाँ अनेक गोष्ठियो मे जैन दर्शन के सम्बन्ध मे उनके विचार सुने। मैने जब से यह बात सुनी, मन मे आया कि परिग्रह और अपरिग्रह के विषय मे महावीर की अवधारणा पर तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए। इस वर्ष अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान पर इक्कीस दिवसीय प्रवचनमाला के बाद आचार्य महाप्रज्ञजी से कहा — महावीर के दर्शन पर अर्थशास्त्रीय दृष्टि से भी एक प्रवचनमाला का आयोजन किया जाए।

संसार मे अनेक अर्थशास्त्री है। वे अपनी दृष्टि से अर्थशास्त्रीय अवधारणाओ को व्यापारी वर्ग और उपभोक्ता वर्ग तक पहुँचा रहे है। अर्थ के प्रति लोगो का अकर्षण बढ रहा है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थ मनुष्य के जीवन से भी अधिक मूल्यवान् बन रहा है। अर्थ का अर्जन, सग्रह, सरक्षण और भोग — यह चतुष्टयी सन्ताप का कारण बन रही है। ऐसी स्थिति मे महावीर की विचारधारा कुछ

प्रस्तुति

जो मनुष्य अप्रामाणिक प्रवृत्तियो से धन का अर्जन करते है, वे वैर के साथ अपना अनुबन्ध कर लेते है।

धन मे मुर्च्छित मनुष्य को धन त्राण नही देता।

अंधेरी गुफा मे जिसका दीप बुझ गया हो, उसकी भांति अर्थ मे आसक्त मनुष्य पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नही देखता।

महावीर के ये सूत्र स्पष्ट संकेत दे रहे हैं — महावीर अर्थशास्त्री नही है। वे अध्यात्म पुरुष हैं। आत्मा के अस्तित्व को उन्होने अपना आधार माना है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय वस्तुएं है। अध्यात्मशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय आत्मा है। उसका सम्बन्ध अपरिग्रह से है। महावीर अपरिग्रह के महान् प्रवक्ता है। उन्होने स्वयं अपरिग्रह की स्थापना की, आकिचन्य का जीवन जीया।

गृहस्थ मनुष्य अपरिग्रही नही हो सकता, जीवन चलाने के लिए भिक्षाजीवी नही हो सकता। उसके लिए महावीर ने इच्छापरिमाण — परिग्रह के सीमाकरण का विधान किया। सीमाकरण से अर्थशास्त्र के कुछ सिद्धान्त फलित होते है। आकाक्षा और उत्पादन के असीम संवर्धन का सिद्धान्त वहुत आकर्षक है किन्तु वह स्वाभाविक नही है और उसके परिणाम भी मनुष्य के हित मे नही हैं।

अर्थशास्त्र आर्थिक समृद्धि का शास्त्र है और अर्थ का सीमाकरण शान्ति का शास्त्र। असीम आकांक्षा और शान्ति मे कभी समझौता नही होता। मनुष्य के लिए आर्थिक संसाधन भी जरूरी है। शान्ति के मूल्य पर यदि आर्थिक विकास हो तो परिणामतः अशान्त मनुष्य आर्थिक समृद्धि से सुखानुभूति नही कर सकता। वर्तमान की अपेक्षा है — आर्थिक आवश्यकता की सपूर्ति और शान्ति — इन दोनो का समन्वय किया जाए। ऐकान्तिक दृष्टिकोण विश्व की समस्या को समाधान देने मे सक्षम नही है, इसलिए सापेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर आवश्यकता की संपूर्ति का अर्थशास्त्र और शान्ति के अर्थशास्त्र — दोनो एक दूसरे के पूरक हो। संयम, विसर्जन, त्याग, सीमाकरण — ये शब्द आर्थिक संपन्नता के स्वप्नद्रष्टा मनुष्य को प्रिय नही हैं। भोग, विलासिता,

सुविधा — इन शब्दो मे सम्मोहक शक्ति है। जो प्रिय नही लगते, वे मानवता के भविष्य के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। इस अनिवार्यता की अनुभूति ही महावीर और उनके सीमाकरण के सिद्धान्त को अर्थशास्त्र के सन्दर्भ मे समझने की प्रेरणा देगी।

पूज्य गुरुदेव ने कल्पना की, प्रकल्प और संकल्प किया — 'महावीर के अर्थशास्त्र' के कुछ सूत्रो पर चर्चा हो, जो मानसिक तनाव और पर्यावरण की समस्या मे उलझे हुए मानस को समाधान दे सके। महापुरुष का संकल्प निर्विकल्प होता है इसलिए वह चरितार्थ हो गया। चार सप्ताह (६ अगस्त से २८ अगस्त ९४) तक प्रति शनि और रविवार को चलने वाला उपक्रम बढती हुई जिज्ञासा और उत्साह के साथ संपन्न हो गया।पाठक के लिए प्रस्तुत है 'महावीर का अर्थशास्त्र।' मुनि धनंजयकुमार ने इसके संपादन मे अनवरत श्रम किया। मुनि महेन्द्रकुमारजी ने बड़ी तत्परता के साथ इसका एक परिशिष्ट तैयार किया, जिसमे कुछ आधुनिक विचारको के विचार बिन्दु संकलित है। इसमे मानवता के भविष्य का प्रतिबिम्ब है, यदि बिम्ब अपने प्रतिबिम्ब को पहचान सके।

— आचार्य महाप्रज्ञ

अध्यात्म साधना केन्द्र
नई दिल्ली
११ सितम्बर १९९४

सम्पादकीय

❑ अपरिग्रह का प्रवक्ता निर्ग्रन्थ
क्या रच सकता है अर्थशास्त्र का ग्रन्थ ?
महाप्रज्ञ की कृति 'महावीर का अर्थशास्त्र'
खोल देती है बंद जिज्ञासा पात्र
उभरता है मन मे यह प्रश्न
क्या अपरिग्रह का चिन्तन
दे सकता है परिग्रह का दर्शन ?

❑ समाधान है गहराई मे, ऊँचाई मे
अवस्थित हू सतह पर, तराई मे
सहसा चेतना के अतल तल को चीरकर
कौधती है एक विद्युत किरण —
आयुष्मन्
महावीर के ध्वनि प्रकपन
पकड़ता था चेतना का कण-कण
न केवल मानव
देव दानव
पशु-पक्षी ही नही
वृक्ष और वनस्पति भी
सुनते थे
समझते थे
भूलकर वैर-भाव
त्याग अपना विभाव ।

❑ महावीर का वचन
शाश्वत सत्य का निर्वचन
न व्यक्ति

न जाति
सबके लिए
जिसमे अध्यात्म शास्त्र भी है
नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र भी है
राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र भी है
प्रश्न है पकडने वाली दृष्टि का
संकल्पजा सृष्टि का ।

❑ विस्मृति का विलय
स्मृति मे ग्रन्थ 'भूवलय'
एक पत्र मे संदृब्ध
अनगिन भाषा से स्मृद्ध
जिसमे रसियन और जापानी भी है
फ्रेंच और जर्मनी भी है
कोई भी नही है ऐसी लिपि
जिसकी न मिले प्रतिलिपि
केवल चाहिए वह दृष्टि
जो पकड सके शब्द-सृष्टि ।

❑ महाप्रज्ञ का प्रस्तुत सृजन
मौलिक प्रतिभा का एक और निदर्शन
महावीर की सूत्रात्मा से
महाप्रज्ञ की अर्थात्मा का
साक्षात् मिलन
महावीर की प्रासंगिकता का
महाप्रज्ञ की प्रतिभा से
सजीव चित्रण
जो देता है
नया प्रकाश
प्रवल आश्वास
नया विश्वास ।

❑ महाप्रज्ञ कहते है —
अपरिग्रह के चिन्तन से ही
निकल सकता है
परिग्रह का पावन दर्शन
अहिंसा और शान्ति के अर्थशास्त्र का
कमनीय अयन
जिस पर चलकर
पा सकता है हर पाठक
शान्ति की वह दिव्य मणि
जो भौतिकता की चकाचौंध मे
हो गई है आँखों से ओझल।

मुनि धनंजयकुमार

नई दिल्ली
१३ सितम्बर ११९४

अनुक्रम

१. केन्द्र मे कौन ? मानव या अर्थ ?	१५
२. विकास की अर्थशास्त्रीय अवधारणा	२७
३.अहिसा और शान्ति का अर्थशास्त्र	३८
४.व्यक्तिगत स्वामित्व एवं उपभोग का सीमाकरण	५०
५. पर्यावरण और अर्थशास्त्र	६१
६. गरीबी और बेरोजगारी	७१
७ महावीर, मार्क्स, केनिज और गांधी	८०
८. नई अर्थनीति के पेरामीटर	९०
९.. धर्म से आजीविका : इच्छा परिमाण	१००
१०. जिज्ञासा :समाधान	११२
११. महावीर और अर्थशास्त्र	१२६

परिशिष्ट

१. महावीर वाणी : मूल स्रोत	१४५
२. व्रत-दीक्षा	१५०
३. चौदह नियम	१५८
४. अणुव्रत-आचार-सहिता	१५९
५. अर्थशास्त्र : आधुनिक विचार	१६०

केन्द्र में कौन ? मानव या अर्थ ?

विश्व की नई व्यवस्था अपेक्षित है । नया समाज, नई अर्थ व्यवस्था, नई राजनीति की प्रणाली, सब कुछ नया अपेक्षित है । इसलिए कि जो नया-नया चल रहा है, उससे संतोष नही है । जो नया करना चाहते है, वह पुराना भी है । हमारी इस परिवर्तनशील व दुनिया मे ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय एक साथ चलते है । ध्रुव है, शाश्वत है और साथ मे परिवर्तन भी है । यह अनेकान्त का नियम है । परिवर्तन और शाश्वत—दोनो संयुक्त रूप से चलता है इसलिए नया कुछ भी नही होता । जो नया होता है, वह भी पुराना बन जाता है । जो पुराना है, उसमे भी खोज करे तो बहुत कुछ नया मिलेगा ।

मनुष्य की प्रकृति

भगवान् महावीर ने मनुष्य को व्याख्यायित किया । मनुष्य बाहर से तो एक विशिष्ट आकृति प्रधान और पशु से भिन्न लगता है किन्तु मनुष्य की प्रकृति बहुत से प्राणियो से भिन्न नही है । प्रत्येक प्राणी के अन्तस्तल मे एक प्रकृति है काम । मनुष्य की प्रकृति मे भी काम है । महावीर का वचन है—कामकामे । —यह पुरुष कामकामी है । काम उसकी प्रकृति का एक तत्त्व है ।

उसकी प्रकृति का दूसरा तत्त्व है—अर्थलोलुए—वह अर्थलोलुप है, अर्थ का आकाक्षी है ।

मनुष्य की प्रकृति का तीसरा तत्त्व है—धम्मसद्धा । मनुष्य मे धर्म की श्रद्धा है, चरित्र की श्रद्धा है, आस्था है ।

मनुष्य की प्रकृति का चौथा तत्त्व है—सवेग । वह मुक्त होना चाहता है ।

ये मनुष्य की प्रकृति के चार तत्त्व है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । भारतीय चिन्तन मे चार पुरुषार्थ का समन्वय माना गया है । चार पुरुषार्थ को छोडकर हम मनुष्य की व्याख्या करे तो उसे समग्रता से नही समझा जा सकता । उसको समग्रता से समझने के लिए इस पुरुषार्थ चतुष्टयी को समझना जरूरी है ।

समन्वित दृष्टिकोण

चाणक्य भारतीय राजनीति और अर्थनीति के एक प्रतीक पुरुष है । उन्होने कई

ग्रन्थ लिखे है । कौटिल्य अर्थशास्त्र उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है । अपने दूसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ चाणक्य सूत्र मे वे लिखते है—

सुखस्य मूलं धर्मः । धर्मस्य मूलं अर्थः । अर्थस्य मूलं राज्यः । राज्यस्य मूल इन्द्रिय-जयः ।

सुख का मूल है धर्म । धर्म का मूल है अर्थ । अर्थ का मूल है राज्य और राज्य का मूल है इन्द्रिय-जय ।

इन्द्रिय-जय को छोड़कर केवल राज्य और अर्थ की कल्पना चाणक्य नही कर सकते । चाणक्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शिष्य थे और चन्द्रगुप्त भगवान् महावीर के शिष्य । मौर्य साम्राज्य मे चन्द्रगुप्त ने कुछ नई व्यवस्थाएं दी थी और उन व्यवस्थाओ के सूत्रधार थे महामात्य चाणक्य । चाणक्य सूत्र मे उन्होने जिस सत्य का प्रतिपादन किया है, वह एक समन्वित दृष्टिकोण है ।

दो प्रणालियां

वर्तमान मे दो मुख्य प्रणालियां प्रचलन मे है—

कैपिटलिज्म

कम्युनिज्म ।

एक पूजीवादी प्रणाली है और एक साम्यवादी प्रणाली । दोनो की फिलॉसफी है मैटेरियलिज्म—भौतिकवाद । पूंजीवाद का दर्शन भी भौतिकवाद है और साम्यवाद का दर्शन भी भौतिकवाद है । दोनो मे दर्शन का कोई अन्तर नही है ।

व्रती समाज

महावीर ने एक समाज की कल्पना की थी । उसका नाम हो सकता है व्रती समाज । उसके लिए उन्होने एक आचार सहिता दी । उसमे से अर्थ-व्यवस्था के बहुत सारे सूत्र फलित होते है, अर्थ-व्यवस्था के अनेक सिद्धान्त प्रस्फुटित होते है । व्रती समाज की जो परिकल्पना है, उस पर दर्शन की दृष्टि से विचार करे । वह न भौतिकवाद है और न कोई दूसरा अन्य वाद । वह एक समन्वित वाद है, जिसमे भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनो का समन्वय है । महावीर यथार्थवादी थे । उन्होने भौतिकवाद को अस्वीकार नही किया, पौद्गलिक सुख को अस्वीकार नही किया । किन्तु उनमे प्रकृति का भेद अवश्य वतलाया—एक शाश्वत सुख या आन्तरिक सुख है, दूसरा क्षणिक अथवा भौतिक सुख है ।

जीवन का आधार

महावीर ने कहा—खणमेत्त सोक्खा बहुकाल दुक्खा—भौतिक सुख क्षणिक होता है, परिणाम मे दुःखद होता है। इस अन्तर का प्रतिपादन किया पर यह नहीं कहा— जो भौतिकवाद है या भौतिकवादी दृष्टिकोण है, वह सर्वथा गलत है। यह सचाई है कि हमारा सारा जीवन पौद्गलिक है, पुद्गल के आधार पर चलता है। हम भौतिकवाद से हटकर केवल अध्यात्मवाद के आधार पर जीवनयात्रा को नही चला सकते। इसलिए उन्होने एक समन्वित दृष्टिकोण पर बल दिया। कोरा भौतिकवाद नही, कोरा एकांगी दृष्टिकोण नही, किन्तु अनेकान्त का दृष्टिकोण, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद—दोनो की समन्विति।

केनिज के विचार

आधुनिक अर्थशास्त्र भौतिकवाद के आधार पर विकसित हुआ है। उसकी कठिनाई यह एकांगी दृष्टिकोण ही है। यह एकांगी दृष्टिकोण नही होता तो वर्तमान मे इतनी आर्थिक अपराध की स्थितियां नही बनती, इतनी आर्थिक स्पर्धा नही होती, उत्पादन और वितरण मे इतनी विषमता पैदा नही होती। आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रमुख पुरुष केनिज कहते है—'हमे अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनाना है। इस रास्ते मे नैतिक विचारो का हमारे लिए कोई मूल्य नही है।' उनका बहुत स्पष्ट कथन है—'यह नैतिकता का विचार न केवल अप्रासगिक है, बल्कि हमारे मार्ग मे बाधक भी है।

आश्चर्य किस बात का

आज ज्वलन्त प्रश्न है भ्रष्टाचार का। बहुत सारे लोग भ्रष्टाचार की बात करते है, कहते है—आज भ्रष्टाचार बढ़ा है। जब अर्थशास्त्र की मूल धारणा यह है कि नैतिकता का विचार हमारे मार्ग मे बाधक है तो फिर भ्रष्टाचार का रोना क्यो ? इसमे आश्चर्य किस बात का है ? वर्तमान की अर्थशास्त्रीय अवधारणा के बीच यदि भ्रष्टाचार बढ़ता है, आर्थिक अपराध बढ़ते है, अप्रामाणिकता और बेईमानी बढ़ती है तो स्वाभाविक है। भ्रष्टाचार न बढ़े तो आश्चर्य की बात है।

आधुनिक अर्थशास्त्र के आधार

इस समग्र पृष्ठभूमि के सन्दर्भ मे वर्तमान के अर्थशास्त्र और भगवान महावीर के युग के अर्थशास्त्र के कुछ कोणो पर विचार करे। आधुनिक अर्थशास्त्र के तीन

मुख्य आधार है—

- इच्छा
- आवश्यकता
- मांग

इच्छा को बढ़ाओ, आवश्यकता को बढ़ाओ और माग को बढ़ाओ। तुलनात्मक दृष्टि से देखे—इच्छा का क्षेत्र व्यापक है। आवश्यकता का क्षेत्र उससे छोटा है और मांग का क्षेत्र उससे भी छोटा है। इन तीन पर आधुनिक अर्थशास्त्र का ढाचा खडा है।

महावीर का अर्थशास्त्र

महावीर के अर्थशास्त्र के तत्त्वो पर विचार करे तो आधुनिक अर्थशास्त्र मे चार बाते और जोड़ देनी चाहिए—

- सुविधा
- वासना, आसक्ति या मूर्च्छा
- विलासिता
- प्रतिष्ठा

सुविधा के लिए

केवल इच्छा पूर्ति के लिए या केवल विलासिता के लिए सारा प्रयत्न नही होता। अर्थ का विकास जो मनुष्य करता है, उसका एक दृष्टिकोण बनता है सुविधा। उसे सुविधा चाहिए।इसलिए वह अर्थ का सग्रह करता है ।

आसक्ति

दूसरा तत्त्व है आसक्ति। न सुविधा की जरूरत, न आवश्यकता, केवल वासना। आज के विज्ञापन ऐसी वासना जागृत करते है कि अनावश्यक को भी आवश्यक बना देते हैं। उसे देखकर ऐसा लगता है कि इसके बिना तो हमारा जीवन चल ही नही सकता। यह वासना विज्ञापन के द्वारा जागृत होती है।

विलास के लिए

मनुष्य विलास के प्रति आकर्षित है। वह विलासिता की पूर्ति के लिए अधिकतम प्रयत्न करता है। विलास के लिए प्रभूत धन चाहिए। अर्थ मनुष्य की इस वृत्ति को पोषण देता है।

प्रतिष्ठा के लिए

एक हेतु है प्रतिष्ठा, अह का पोषण । कोई आवश्यकता नही है, फिर भी अहं के पोषण के लिए बहुत कुछ खरीदना पड़ता है ।

केन्द्र में कौन है ?

इन सूत्रो के संदर्भ मे अर्थनीति पर विमर्श करे । किस अर्थ की व्यवस्था मे, किस सूत्र के साथ मनुष्य प्रधान बनता है और कहा अर्थ प्रधान बनता है । कही-कही मनुष्य गौण बन जाता है और अर्थ प्रधान या मुख्य बन जाता है । यह गौण और मुख्य का अन्तर जितना स्पष्ट होगा, हमे इस सचाई का बोध होगा—अर्थशास्त्र के केन्द्र मे मनुष्य कहा है और अर्थ कहा है ।

अनियंत्रित इच्छा

आधुनिक अर्थशास्त्र का मुख्य सूत्र है—अनियत्रित इच्छा ही हमारे लिए कल्याणकारी और विकास का हेतु है । जहा इच्छा का नियत्रण करेगे, विकास अवरुद्ध हो जाएगा । जहा अनियत्रित इच्छा है, वहा मनुष्य निश्चित रूप से परिधि मे चला जाएगा और अर्थ केन्द्र मे आ जाएगा ।

असीम आवश्यकता

आवश्यकता के लिए भी यही सूत्र काम करता है । अर्थशास्त्र का सूत्र है—आवश्यकता को असीम विस्तार दो, कही रोको मत । इससे भी मनुष्य किनारे पर लग जाता है और अर्थ केन्द्र में आ जाता है ।

सुविधा का अतिरेक

हम सुविधा को अस्वीकार नही कर सकते । महावीर ने भी इसे सर्वथा अस्वीकार नही किया । इसलिए कि मनुष्य के भीतर कामना है । कामना है तो फिर सुविधा उसके लिए अनिवार्य बन जाती है । कामना और सुविधा—इन दोनो को अलग नही किया जा सकता । यदि मनुष्य की प्रकृति मे काम नही होता तो हम सुविधा को अस्वीकार क़र देते । यथार्थवादी दृष्टिकोण यही है—जहां कामना है, वहां सुविधा अनिवार्य होगी । महावीर ने भी इस यथार्थ को स्वीकार किया—सुविधा की अपेक्षा है, किन्तु जहां सुविधा का अतिरेक हो जाता है, वहां मनुष्य गौण बन जाता है और अर्थ प्रधान बन जाता है ।

विलासिता

विलासिता मे मनुष्य का कही पता ही नही होता। मनुष्य परिधि से भी बाह चला जाता है। केवल अर्थ . . . अर्थ . . . और . . . अर्थ बचता है। विलासिता न हमारी आवश्यकता है, न अनिवार्यता। न सुविधा है, न कोरा मनोरंजन। वह केवल भोगवृत्ति का उच्छृखल रूप है। समझदार मनुष्य उसमे किसी भी सार्थक तत्त्व के नही देख पाता। वहां केवल अर्थ की लोलुपता और उसकी पूर्ति के साधन के सिव और कुछ नही बचता। विलासिता केवल भोग का पोषण है। इसमे काम और अह — दोनो वृत्तियां काम करती है।

महावीर का सूत्र

इन सूत्रो के आधार पर अर्थनीति का निर्धारण होता है और आदमी अर्थार्ज की वृत्ति मे सलग्न होता है। प्रश्न है—महावीर ने इस विषय मे क्या नया सूत्र दिया? क्या इच्छा को अस्वीकार किया? महावीर ने इच्छा को अस्वीकार नही किया। उन्होने स्वय कहा—इच्छा हु आगाससमा अणंतया— इच्छा आकाश के समान अनन्त है। क्या आवश्यकता को रोकने की बात कही? उन्होने यह भी नही कहा—आवश्यकताओ को समाप्त कर दो, उनका प्रयोग मत करो। उन्होने इनके साथ 'सयम' शब्द का प्रयोग किया—इच्छा का संयम करो, आवश्यकता का सयम या सीमाकरण करो।

मूलभूत आवश्यकताएं

आवश्यकता क्या है और अनावश्यकता क्या है, इसे समझना भी जरूरी है। हम शरीर की माग को पूरा करे, वह आवश्यकता है। भूख हमारे शरीर की मांग है प्यास हमारे शरीर की माग है। इस माग को पूरा करे, यह आवश्यक है। विनयविजयजी ने आवश्यकताओ का एक चित्रण किया है—शरीर की जो पहली माग है, वह है रोटी की माग। दूसरी माग है पानी की। तीसरी मांग है कपड़े की। चौथी माग है मकान और वस्त्र की। ये शरीर की चार मूलभूत मागे है, आवश्यकताएं है।

वर्गीकरण आवश्यकता का

आवश्यक वह है, जो शरीर की माग को पूरा करे। आवश्यक वह है, जो इन्द्रिय की माग को पूरा करे। हमारे जीवन का पहला तत्त्व है शरीर और दूसरा तत्त्व है इन्द्रिय। अलकरण शरीर की माग नहीं है। यह इन्द्रियो की मांग है। सगीत सुनना चलचित्र देखना, स्वादयुक्त भोजन, सुखद स्पर्श—ये इन्द्रियो की मागे है। महावी

ने, अध्यात्म के आचार्यो ने-इन्हे अस्वीकार नही किया। उन्होने माना—ये मागे है और इस यथार्थ पर सामाजिक प्राणी चलता है, इसलिए इन्हे स्वीकृति दी। इससे भी आगे है मन की माग। वह शरीर के लिए जरूरी नही है किन्तु यदि मन की चाह, तरग को निरस्त कर दिया जाए तो मानसिक विकृतिया भी पैदा हो सकती है। इसलिए मन की मांग भी आवश्यक होती है। इससे आगे बढ़े—पारिवारिक और सामाजिक सबंधो के निर्वाह की भी एक आवश्यकता है। परिवार बढ़ाना और सामाजिक संबंधो की स्थापना भी एक आवश्यकता है। विवाह करना, सतान पैदा करना, इन्द्रिय विषयों को प्राप्त करना, यह सारा एक मांग का, आवश्यकता का वर्गीकरण विनयविजयजी ने किया है।

मनुष्य का व्यक्तित्व

महावीर की सारी कल्पना एक साथ आचार्य ने प्रस्तुत कर दी। यह सारा भौतिकवादी दृष्टिकोण है, पौद्गलि दृष्टिकोण है। आधुनिक अर्थशास्त्री भी इन सब आवश्यकताओ का प्रतिपादन करते है और इन्हे पूरा करने की योजना बताते है। महावीर ने कहा—ये मांग या आवश्यकताए है, इन्हे हम अस्वीकार नही करेगे, किन्तु केवल ये ही नही है। मनुष्य की प्रकृति के चार तत्त्व है। उनमे केवल काम ही सब कुछ नही है। काम की पूर्ति के लिए अर्थ चाहिए, किन्तु वह भी सब कुछ नही है। काम है साध्य और अर्थ है उसकी पूर्ति का साधन। प्रकृति के ये दो अंग बन जाते है—काम और अर्थ, एक साध्य और दूसरा साधन। मनुष्य इतना ही नही है। यदि मनुष्य का व्यक्तित्व केवल काम और अर्थ की सीमा मे ही होता तो नैतिकता, चरित्र आदि पर विचार करने की आवश्यकता ही नही होती। फिर भ्रष्टाचार, बेईमानी और अनैतिकता से ग्लानि करने की , परहेज करने की भी कोई आवश्यकता नही होती। केनिज ने मनुष्य की आधी प्रकृति के आधार पर अपनी अर्थशास्त्रीय घोषणा कर दी, आधी प्रकृति को अस्वीकार कर दिया।

रोटी और आस्था

प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने एक बहुत अच्छी बात कही है—कोरी रोटी और कोरी आस्था—दोनो अपर्याप्त हैं। मनुष्य केवल रोटी के आधार पर जी नही सकता और केवल आस्था के सहारे भी जी नही सकता। आज की प्रणाली तो यह है कि रोटी दो तो आस्था को खण्डित कर दो। आस्था दो तो रोटी की समस्या रह जाती है। ऐसी प्रणाली की आवश्यकता है, जिसमे रोटी भी हो और आस्था भी हो। यह

समन्वित प्रणाली है। महावीर ने जो मार्ग-दर्शन दिया, जो अर्थशास्त्र का दर्शन दिया, उसमे न रोटी का अस्वीकार है और न आस्था का अस्वीकार है। दोनो का समन्वय है, रोटी भी मिले और आस्था भी।

आधी प्रकृति की उपेक्षा मत करो

महावीर ने कहा—मनुष्य की जो आधी प्रकृति है, उसे ठीक समझने का प्रयल करो। वह है धर्म और संवेग या मुमुक्षा, मुक्त होने की इच्छा। उसको बिल्कुल उपेक्षित मत करो। जानबूझकर उसके साथ आखमिचौनी मत करो, चरित्र को भी स्थान दो। जब चरित्र की मीमासा करते है और मुक्त होने की बात सामने होती है, तब एक शब्द फलित होता है सयम। सुविधा की सीमा करो, उसे असीम मत बनाओ। मकान और वस्त्र शरीर के लिए आवश्यक है, पर सुविधा को इतना मत बढ़ाओ कि वह स्वयं के लिए हानिकारक बन जाए।

सुविधा की सीमा का सूत्र

महावीर की भाषा मे सुविधा की सीमा का विवेक यह है—जो सुविधा शारीरिक, मानसिक और भावात्मक स्वास्थ्य को हानि न पहुंचाए, वह सुविधा मान्य है, किन्तु जो सुविधा शारीरिक, मानसिक और भावात्मक स्वास्थ्य को हानि पहुचाए, वह सुविधा अवांछनीय है। फ्रिज एक सुविधा है, किन्तु शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, पर्यावरण के लिए भी हानिकारक है। एयरकडीशनर स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। वातानुकूलित मकान सुविधाजनक तो है, किन्तु स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

यह कितनी मूर्खता है

एक प्रसिद्ध उद्योगपति बीमार हो गए। डाक्टरी दवा से स्वस्थ नही हुए। अस्पतालो और डाक्टरो से निराश होकर अन्त मे वे एक प्राकृतिक चिकित्सक के पास गए। चिकित्सक ने उनसे पूछा—आप क्या खाते है? कहा रहते है? उन्होने सब बताया। सारी बाते चिकित्सक के ध्यान मे आ गई। उसने कहा—आप एक काम करे। तीन घटे गरम पानी मे नहाए। उन्होने वैसा ही किया। दो चार दिनो मे स्वास्थ्य लौटने लगा। एक दिन वे गर्म पानी के टब मे बैठे थे। मन मे विचार आया—यह कितनी मूर्खता है। दिन मे आठ-नौ घटे तो एयरकडीशनर मे काम करो, फिर तीन घटे गरम पानी से स्नान करो। अपने घर के एयरकंडीशनर को निकलवा दिया। तीन घटे गरम पानी के टब मे बैठने की आवश्यकता ही समाप्त हो गई।

वह वांछनीय नहीं है

वह सुविधा, जो हमारे शारीरिक स्वास्थ्य को हानि पहुंचाए, वाछनीय नही है। आज बहुत सारे पदार्थ ऐसे आ गए, जो एक बार सुविधाजनक लगते है, किन्तु अंततः मन को विकृत बना देते है, मानसिक चचलता पैदा कर देते हैं। जितने भी मनोरंजन के क्लब है और उनमे जो सुविधाए दी जाती है, वे एक बार तो मन को अच्छी लगती है, किन्तु उसके बाद मन विकृति से भरता चला जाता है। इसीलिए महावीर ने कहा—सीमा करो, ऐसी सुविधा को मत भोगो।

तर्क की भाषा

एक व्यक्ति से पूछा गया—'शराब क्यो पीते हो?'

उसने कहा—'मेरे लिए आवश्यक है।'

'क्यो आवश्यक है? 'इससे क्या होता है?'

'इसके पीते ही सारा तनाव मिट जाता है।'

यह तर्क की भाषा है—शराब हमारे टेशन को मिटाने के लिए आवश्यक है। महावीर ने कहा—इस काल्पनिक आवश्यकता की सीमा करो। यथार्थ की आवश्यकता रोटी और पानी है। यह शराब केवल काल्पनिक आवश्यकता है, जिसे तुम तनाव मिटाने के लिए जरूरी बताते हो। आज मादक वस्तुओ का जो बाजार प्रभावी है, वह काल्पनिक आवश्यकता के आधार पर बना है। इस विषय मे महावीर से पूछा जाए—क्या करे तो महावीर कहेगे— 'सयम करो। यह तुम्हारे लिए जरूरी नही है। यह तुम्हारी कृत्रिम आवश्यकता है, तुमने इसे आवश्यकता मान लिया है वस्तुतः यह आवश्यकता नही है।' हमारी कल्पना भी बहुत बार आवश्यकता पैदा कर देती है।

यह नाटक क्यों?

रेल के डिब्बे मे दो यात्री आसपास बैठे थे। एक उठा। उसने आगे बढ़ कर खिड़की को वन्द कर दिया। दूसरा उठा और खिड़की को खोल दिया। एक नाटक शुरू हो गया। एक खोलता है, दूसरा बन्द कर देता है। टी॰ टी॰ आया। यात्रियो ने उन दोनो का नाटक बताया और अपनी परेशानी व्यक्त की। टी॰ टी॰ ने पूछा—तुम दोनो ऐसा क्यो करते हो? पहला बोला—मुझे गर्मी लगती है, घुटन महसूस होती है तो खिड़की क्यो न खोलूं? दूसरे ने कहा—मुझे सर्दी लगती है तो क्यो न वन्द करूं? टी॰ टी॰ ने दोनो को खिड़की के पास बुलाया और कहा—देखो! दोनो ने ध्यान से देखा तो पता चला कि खिडकी के शीशा ही नही है।

सचाई को न भुलाएं

जब शीशा ही नही है तो बन्द करने से क्या लाभ और खोलने से क्या लाभ? हमारी काल्पनिक आवश्यकताएं, कृत्रिम अपेक्षाए इतनी ज्यादा होती है कि हम सचाई को भुला देते है। महावीर इसीलिए कहते है कि तुम काल्पनिक आवश्यकता की सीमा करो, संयम करो। सुविधा की भी सीमा करो, संयम करो। महावीर ने यह नही कहा—केवल आत्मा सत्य है और जगत् मिथ्या है। उन्होने व्यवहार को भी मिथ्या नही बतलाया। व्यवहार भी एक सचाई है। पौद्गलिक जगत् भी एक सचाई है। अपेक्षा, आवश्यकता और सुविधा—यह भी एक सचाई है, किन्तु इन्हे उच्छृंखल मत बनाओ, मर्यादा का अतिक्रमण मत करो, इनकी एक सीमा निर्धारित करो। सीमा का भी एक बहुत अच्छा सूत्र प्रस्तुत कर दिया—जहा मूल को हानि न पहुचे, शरीर, मन और भावधारा को हानि न पहुंचे। टी॰ वी॰ हमारी इन्द्रियो को हानि पहुंचाता है। कितने बच्चे इसके प्रबल आसक्त बन गए, कितने लोग आंखो की ज्योति मन्द कर बैठे। समाचार पत्र मे पढ़ा—ब्रिटेन मे बच्चो के चश्मे बहुत बिके। कारग खोजा गया तो पता चला—बच्चे टेलीविजन के बहुत निकट बैठकर देखते है, बहुत लम्बे समय तक देखते है, इसलिए आखो की समस्या बढ रही है, चश्मे बढ़ रहे है। यह उच्छृखल और अतिशय वृत्ति है

अनावश्यक है विलासिता

महावीर ने कहा—विलास को समाप्त करो। विलासिता सर्वथा अनावश्यक है। इसका पूर्ण निरोध करो, संयम करो। यह बात कुछ कटु लग सकती है, किन्तु वहुत सच्ची है—

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बितं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

वासना को बढाने वाले गीत, गीत नही, विलाप है। वासना को बढ़ाने वाले नृत्य और नाटक विडम्बना है, प्रदर्शन को वढ़ाने वाले आभरण भारभूत है। उच्छृखल वासना दु:ख को वढाने वाली है।

यदि इतिहास उपलव्ध होता

महावीर ने संयम का एक अभियान शुरू किया, प्रयोग शुरू किया और उस समय जव आवादी आज जितनी नही थी, पाच लाख व्यक्तियो का एक समाज वनाया।

वह महावीर के सिद्धान्तों को मानने वाला समाज था। पांच लाख लोग उस समय की दृष्टि से कम नही होते। लिच्छवी गणतंत्र का प्रमुख महाराज चेटक महावीर के उस व्रती समाज का एक प्रमुख सदस्य था। पूरा जैन इतिहास आज प्राप्त नही है। भारतीय इतिहास मे जैन तथ्यो की जितनी उपेक्षा हुई है, शायद किसी की नही हुई है। अनेक राजाओ, गणतंत्र के प्रमुखो, जैन सेनापतियो और सार्थवाहो का इतिहास आधुनिक इतिहासकारो ने गायब कर दिया। यदि उनका इतिहास आज हमारे सामने उपलब्ध होता तो लिच्छवी, वज्जी आदि गणतंत्र महावीर के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो के आधार पर चलते थे, यह स्वयं तथ्य सिद्ध हो जाता।

मौलिक अंतर

महावीर ने एक ऐसे समाज को हमारे सामने प्रस्तुत किया, जो सयमी और व्रती समाज था। व्रत और संयम के सदर्भ मे हम आधुनिक अर्थशास्त्र और महावीर के अर्थशास्त्र की तुलना करे। पहला अन्तर तो मूल मे ही दर्शन का आएगा। आधुनिक अर्थशास्त्र एकांगी भौतिकवाद पर आधारित है। महावीर के अर्थशास्त्र मे भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद—दोनो का स्वीकार है। आधुनिक अर्थशास्त्र ने एक लक्ष्य बना लिया है—मनुष्य को धनी बनाना है। महावीर के अर्थशास्त्र का लक्ष्य था—मनुष्य शान्ति के साथ, सुख के साथ अपना जीवन बिताए। क्योकि शान्ति के बिना सुख नही मिलता। सुख शान्ति पूर्वक होता है। गीता मे कहा गया—

न चाभावयतः शान्तिः अशान्तस्य कुतः सुखम्।

भावना के बिना शान्ति नही होती और शान्ति के बिना सुख का सपना भी नही लिया जा सकता।

प्रश्न केन्द्र और परिधि का

एक ओर धन से मिलने वाला सुख है, दूसरी ओर शान्ति से मिलने वाला सुख है। भौतिकवाद के आधार पर धन+सुख— यह समीकरण बनेगा। महावीर के अर्थशास्त्र का समीकरण होगा— धन की सीमा+शान्ति और सुख। व्रत, संयम और सीमाकरण के संदर्भ मे हम महावीर के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो का मूल्यांकन कर सकते हैं। इस सिद्धान्त का केन्द्रीकृत निष्कर्ष यह होगा—जहां व्रत है, संयम और सीमाकरण है, वहां अर्थशास्त्र के केन्द्र मे मनुष्य रहता है, अर्थ दूसरे नम्बर पर रहता है। जहां ऐसा नही है, व्रत, सयम और नैतिकता का विचार नही है, वहां पदार्थ और अर्थ केन्द्र में

रहेगा, मनुष्य पर्दे के पीछे। इस संदर्भ मे वर्तमान की समस्या को, आर्थिक अपराधो को समझने मे बहुत सुविधा होगी। हम सरलता के साथ यह समझ सकते है—आज क्यों आर्थिक भ्रष्टाचार बढ़ रहा है? क्यो आर्थिक अपराध बढ़ रहे है? क्यो सत्ता के शीर्ष पर बैठा व्यक्ति आर्थिक अपराधो मे लिप्त होकर त्याग पत्र देने को बाध्य होता है? जेल मे जाने को विवश होता है? जब तक मनुष्य परिधि मे रहेगा, अर्थ केन्द्र मे रहेगा, तब तक ऐसी घटनाओं को रोका नही जा सकेगा।

विकास की अर्थशास्त्रीय अवधारणा

भगवान् महावीर ने प्रत्येक कार्य, विकास या पर्याय को सापेक्ष बतलाया । बहुत शाखाए है, बहुत शास्त्र है । अनेक विद्या की शाखाओ मे परस्पर सबद्धता है । जितने भी शास्त्र हैं, उनमे भी परस्पर सापेक्षता है । यद्यपि अर्थशास्त्र अर्थ के विषय मे ही चिन्तन करता है किन्तु कोई भी शास्त्र निरपेक्ष होकर चल नही सकता । ऐसा प्रतीत होता है— आधुनिक अर्थशास्त्र ने निरपेक्ष होकर चलने का प्रयत्न किया है । शायद इसी का परिणाम है कि अनेक समस्याएं सुलझने के स्थान पर उलझी है, हिंसा को प्रोत्साहन मिला है ।

आकर्षक उद्देश्य

केनिज ने अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य बतलाया—हर निर्धन व्यक्ति धनी बने, मालामाल बन जाए । उद्देश्य आकर्षक है । इस विषय मे साम्यवाद और पूंजीवाद मे कोई विशेष अन्तर दिखाई नही देता । प्रक्रिया और परिणाम मे अन्तर हो सकता है, किन्तु मूल उद्देश्य यही है कि कोई भी व्यक्ति निर्धन न रहे, गरीब न रहे, गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन न करे । प्रत्येक व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके और वह सुख शान्ति के साथ अपना जीवन जी सके । यह विकास का एक लक्ष्य बनाया गया । अर्थशास्त्रीय दृष्टि से विकास की परिभाषा भी यही है । आर्थिक विकास, प्रौद्योगिकी का विकास, टेक्नोलोजी का विकास, प्रति व्यक्ति आय और जीवनस्तर—ये आधुनिक अर्थशास्त्र के विकास के मानदण्ड है ।

प्रिय नहीं है दरिद्रता

प्राचीन काल मे भी कहा गया—अधनं निर्बलं—जो अधन है, वह निर्बल है । दरिद्र और गरीब कभी वांछनीय नही रहा । दरिद्रता सदा तिरस्कृत हुई है । उसे किसी भी दृष्टि से अच्छा नही माना गया ।

एक ब्राह्मण पण्डित ने राजा भोज से मिलने के लिए प्रस्थान किया । वह बहुत दरिद्र था । राजा को भेट करने के लिए कपडे मे गन्ने के कुछ खण्ड (टुकडे) बांधकर

रहेगा, मनुष्य पर्दे के पीछे। इस संदर्भ मे वर्तमान की समस्या को, आर्थिक अपराधों को समझने मे बहुत सुविधा होगी। हम सरलता के साथ यह समझ सकते हैं—आज क्यो आर्थिक भ्रष्टाचार बढ़ रहा है? क्यो आर्थिक अपराध बढ़ रहे है? क्यों सत्ता के शीर्ष पर बैठा व्यक्ति आर्थिक अपराधो मे लिप्त होकर त्याग पत्र देने को बाध्य होता है? जेल मे जाने को विवश होता है? जब तक मनुष्य परिधि मे रहेगा, अर्थ केन्द्र में रहेगा, तब तक ऐसी घटनाओ को रोका नही जा सकेगा।

विकास की अर्थशास्त्रीय अवधारणा

भगवान् महावीर ने प्रत्येक कार्य, विकास या पर्याय को सापेक्ष बतलाया। बहुत शाखाएं है, बहुत शास्त्र है। अनेक विद्या की शाखाओ मे परस्पर संबद्धता है। जितने भी शास्त्र हैं, उनमे भी परस्पर सापेक्षता है। यद्यपि अर्थशास्त्र अर्थ के विषय मे ही चिन्तन करता है किन्तु कोई भी शास्त्र निरपेक्ष होकर चल नही सकता। ऐसा प्रतीत होता है— आधुनिक अर्थशास्त्र ने निरपेक्ष होकर चलने का प्रयत्न किया है। शायद इसी का परिणाम है कि अनेक समस्याए सुलझने के स्थान पर उलझी है, हिंसा को प्रोत्साहन मिला है।

आकर्षक उद्देश्य

केनिज ने अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य बतलाया—हर निर्धन व्यक्ति धनी बने, मालामाल बन जाए। उद्देश्य आकर्षक है। इस विषय मे साम्यवाद और पूंजीवाद मे कोई विशेष अन्तर दिखाई नही देता। प्रक्रिया और परिणाम मे अन्तर हो सकता है, किन्तु मूल उद्देश्य यही है कि कोई भी व्यक्ति निर्धन न रहे, गरीब न रहे, गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन न करे। प्रत्येक व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके और वह सुख शान्ति के साथ अपना जीवन जी सके। यह विकास का एक लक्ष्य बनाया गया। अर्थशास्त्रीय दृष्टि से विकास की परिभाषा भी यही है। आर्थिक विकास, प्रौद्योगिकी का विकास, टेक्नोलोजी का विकास, प्रति व्यक्ति आय और जीवनस्तर—ये आधुनिक अर्थशास्त्र के विकास के मानदण्ड है।

प्रिय नहीं है दरिद्रता

प्राचीन काल मे भी कहा गया—अधनं निर्वलं—जो अधन है, वह निर्वल है। दरिद्र और गरीव कभी वाछनीय नही रहा। दरिद्रता सदा तिरस्कृत हुई है। उसे किसी भी दृष्टि से अच्छा नही माना गया।

एक ब्राह्मण पण्डित ने राजा भोज से मिलने के लिए प्रस्थान किया। वह वहुत दरिद्र था। राजा को भेट करने के लिए कपड़े मे गन्ने के कुछ खण्ड (टुकडे) वांधकर

ले लिए। कुछ देर विश्राम करने के लिए वह जंगल मे सो गया। उधर से आ रहे एक व्यक्ति ने उसे देखा। उसने सोचा—राजा के पास यह पुरस्कार के लिए इक्षुखण्ड लेकर जा रहा है। उसने कपड़े से इक्षुखंड निकाल लिए और उसकी जगह लकडियां बांध दी। पंडित सोकर उठा। वह कपड़े मे बंधी लकड़ियो को लेकर राजा के महल की ओर चल पड़ा। दरबार मे पहुंचकर भेट करने की इच्छा से जब कपड़े को खोला तो उसमे लकड़ियां देखकर स्तब्ध रह गया। वह बहुत चिंतित हो गया। महाकवि कालिदास समझ गए—इस व्यक्ति के साथ किसी ने छलना की है। उन्होने तुरन्त स्थिति को संभालते हुए कहा—'महाराज! आज जैसा उपहार आया है, वैसा कभी किसी ने भेट नही किया। बड़ा अद्‌भुत उपहार है। राजा ने पूछा—कैसे? कालिदास ने कहा—

दग्धं खाण्डवमर्जुनेन बलिना रम्यद्रुमैर्भूषितं,
दग्धा वायुसुतेन हेमनगरी लंका पुनः स्वर्णभूः।
दग्धो लोकसुखो हरेण मदनः किं तेन युक्तं कृतं,
दारिद्र्यं तापकारकमिदं केनापि दग्धं न हि॥

खाण्डव वन को अर्जुन ने जला दिया, सोने की लका को हनुमान ने जला दिया और कामदेव को शंकर ने जला दिया, लेकिन इस दरिद्रता को, जो सबको जलाती है, कोई जला नही सका। यह विप्र इस दरिद्रता को जलाने के लिए ईधन भेट कर रहा है। इसे जलाने मे आप ही समर्थ है।

दारिद्रय कभी प्रिय नही रहा, गरीबी कभी वांछनीय नही रही, न प्राचीनकाल में, न अर्वाचीनकाल मे। सब चाहते है कि गरीब कोई न रहे, समाज किसी को न सताए। किन्तु यह बड़ा कठिन काम है।

अर्थशास्त्र का ध्येय

आधुनिक अर्थशास्त्र ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया—मनुष्य के स्वार्थ के मनोवेग को उभारा जाए। आज के अर्थशास्त्र का मुख्य ध्येय रहा है—जहां तक हो सके, स्वार्थवृत्ति को उभारा जाए। जितना स्वार्थ उभरेगा, उतना ही विकास होगा। केनिज ने बड़ी दृढ़ता के साथ इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त मे सचाई नही है, ऐसा मैं नही मानता। क्योंकि व्यक्तिगत प्रेरणा और व्यक्तिगत स्वार्थ जितना मनुष्य से काम करवाता है, उतना कोई नही करवाता। स्वार्थ हमारी एक बहुत बड़ी प्रेरणा है और बहुत प्रिय है। जिस सिद्धान्त का आधुनिक अर्थशास्त्र ने प्रतिपादन

किया, वह प्रिय है, आकर्षक है—हर व्यक्ति अपने स्वार्थ को बढ़ाए और व्यक्तिगत स्वामित्व जितना विकसित कर सके, करे। जितना अर्जन कर सके, करे।

साम्यवाद ने जो सिद्धान्त प्रस्तुत किए, वे भी कम आकर्षक नही है। कोई भी व्यक्ति भूखा नही रहेगा, बिना मकान के नही रहेगा, वस्त्रहीन नही रहेगा, आजीविका शून्य नही रहेगा, प्राथमिक आवश्यकताएं सबकी पूरी होंगी। यह साम्यवाद का आकर्षण सपना था, और है।

प्रिय और हित

इस संदर्भ मे महावीर के दर्शन की मीमांसा करे। प्रिय और हित—इन दो शब्दो पर ध्यान दे। एक बात प्रिय लगती है, किन्तु हितकर नही है। एक बात हितकर है, किन्तु प्रिय नही लगती। एक बात ऐसी भी हो सकती है, जो प्रिय भी है और हितकर भी है। हर व्यक्ति धनवान बने, स्वार्थ के मनोवेग को उभारे, जिससे संपदा का विकास हो—यह प्रिय है, किन्तु हितकर नही है। व्यक्ति मे स्वार्थ वैसे भी बहुत तीव्र होता है। इस वैयक्तिक स्वार्थ ने समाज मे काफी समस्याएं पैदा की है। इसे और तीव्र बनाने का प्रयत्न किया जाए तो परिणाम कैसा होगा, यह हम आज के समय को देखकर समझ सकते है।

कैसे हो आर्थिक विकास ?

हर व्यक्ति चाहता है—समाज मे आर्थिक विकास हो, किन्तु प्रश्न है कि कैसे हो ?इसकी प्रक्रिया क्या हो ? आर्थिक विकास निर्विकल्प है। महावीर कहते है—आर्थिक विकास की बात करते समय इन बिन्दुओ पर विचार अवश्य करो —

- अहिंसा और साधन शुद्धि
- मूल्यो का ह्रास न हो
- स्वार्थ की सीमा

अहिंसा और साधन शुद्धि

आर्थिक विकास के साथ कही हिंसा तो नही बढ़ रही है ? साधन शुद्धि की दृष्टि से विचार करे—आर्थिक विकास हो, किन्तु वह येन-केन-प्रकारेण नही। एक व्यक्ति आज सामान्य स्थिति मे है। उसने किसी सम्पन्न व्यक्ति का अपहरण कर लिया। एक करोड़ की फिरौती मांगी। उसमे सफल हुआ। गरीब से करोडपति बन गया। आर्थिक विकास तो उसका हो गया किन्तु उसके लिए जो साधन अपनाए, जो प्रक्रिया अपनाई, क्या वह वाछनीय हो सकती है ?

प्रसिद्ध होने के नुस्खे

प्राचीनकाल मे एक चिन्तन रहा—प्रसिद्धि आदमी को विजय दिलाती है। एक व्यक्ति के मन मे विकल्प उठा—मुझे प्रसिद्ध होना है। इसके लिए क्या करू ? किसी ने सलाह दी—जाओ, बाजार मे घड़ो को इकट्ठे रखो और लाठी से फोड़ो, बहुत प्रसिद्ध हो जाओगे। ऐसा न कर सको तो पहने हुए सारे कपड़ो को उतार फेंको, नग्न हो जाओ, एकदम प्रसिद्ध हो जाओगे। यह भी न कर सको तो गधे की सवारी करो, प्रसिद्ध हो जाओगे। प्रसिद्ध होने के ये सबसे सस्ते नुस्खे है—

> **घटं भिन्द्यात् पटं छिन्द्यात्, कृत्वा रासभरोहणम्।**
> **येन केन प्रकारेण, प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्॥**

दो सूत्र है—एक येन-केन-प्रकारेण का और दूसरा साधन-शुद्धि का। भगवान् महावीर ने कहा—समाज के क्षेत्र मे आर्थिक विकास मे किसी को आपत्ति नही हो सकती किन्तु यह येन-केन-प्रकारेण नही होना चाहिए, उसमे अहिंसा की दृष्टि से विचार होना चाहिए, साधन-शुद्धि की दृष्टि से विचार होना चाहिए।

मूल्यों का ह्रास न हो

महावीर ने कहा—अर्थार्जन मे मूल्यो का ह्रास न हो। महावीर की अवधारणा और आधुनिक अर्थशास्त्र की अवधारणा मे इस दृष्टि से हम बहुत अन्तर देखते है। आर्थिक विकास मे मूल्यो का ह्रास न हो, यह अनिवार्य शर्त रही। आज स्थिति दूसरी हो गई है। केनिज ने स्पष्ट कह दिया — 'अभी यह समय नही आया है कि हम मूल्यो पर विचार करे या नैतिकता पर विचार करे। जब सभी धनवान् बन जाएंगे, तब इस पर विचार करने की जरूरत पड़ेगी।' यह बहुत बड़ा अन्तर है, महावीर की अर्थशास्त्रीय अवधारणा और आज की अर्थशास्त्रीय अवधारणा मे। करुणा का विकास, सवेदनशीलता का विकास आर्थिक विकास के साथ-साथ होना चाहिए। कही ऐसा तो नही हो रहा है कि समृद्ध बनने के साथ-साथ उसी अनुपात मे हमारी करुणा, दया का स्रोत सूखता जा रहा है। एक व्यक्ति ने क्रूरता के साथ धन बटोरा। उससे आर्थिक विकास तो हो सकता है किन्तु उसका यह विकास हजारो व्यक्तियों के लिए एक गड्ढा खोद देता है।

स्वार्थ की सीमा

स्वार्थवृत्ति से सर्वथा अछूता नही रहा जा सकता। साधना करने वाले व्यक्ति में भी अपना स्वार्थ होता है। वह सर्वथा बुरा और अवांछनीय भी नही होता, अच्छा

भी होता है किन्तु उसकी एक सीमा होनी चाहिए। ऐसा स्वार्थ न हो कि वह दूसरो के हित को हानि पहुंचाए। व्यक्ति अकेला नही है, दुनिया बहुत बडी है। अरबो आदमी है। एक व्यक्ति अपने स्वार्थ को इतना उभारे कि अपना तो आर्थिक विकास करे और दूसरो को हानि पहुंचाए। यह नही होना चाहिए।

निदर्शन आनंद का

महावीर ने कहा—आर्थिक विकास के साथ इन बिन्दुओ पर विचार करो। महावीर का श्रावक आनन्द आर्थिक दृष्टि से बहुत सम्पन्न था। उसके पास हजारो-हजारो एकड़ कृषि भूमि थी। चालीस हजार गायो की गौशाला थी। करोडो की सपदा व्यापार मे लगी हुई थी किन्तु व्रती समाज का सदस्य होने के नाते उसका यह व्रत था—अर्थार्जन मे अप्रामाणिक साधनो का उपयोग नही करूगा। इसी के आधार पर उसने अपना आर्थिक विकास किया था।

धर्म और आर्थिक विकास

आर्थिक विकास करने मे कोई धर्म बाधा नही डालता। आधुनिक अर्थशास्त्र के बहुत से विद्वानो ने कहा—हमारे धर्म कहते है, अकुश लगाओ, यह मत करो, वह मत करो। ये निर्देश अनुपयोगी है, विकास मे बाधक है। वस्तुत. हम प्रियता के कोण से सोचते है, तभी ये बाधक लगते है। हित के कोण से सोचे तो पाएगे—ये बाधक नही, साधक है। प्रियता और हित दोनो दृष्टियो से सोचे तो अर्थशास्त्र मनुष्य के लिए बहुत लाभकारी हो सकता है। केवल प्रियता की दृष्टि से विचार करेगे तो पाएंगे—आज के अर्थशास्त्र ने मनुष्य-समाज मे बहुत विकृतियां पैदा की है, उसे क्रूर बनाया है, शोषण के रास्ते पर अग्रसर किया है।

विद्यमान है साम्राज्यवादी मनोवृत्ति

आज टेक्नोलोजी का बहुत विकास हुआ है, इसमे कोई सदेह नही है। किन्तु उसके साथ यदि करुणा रहती तो शायद मनुष्य जाति के लिए इतना खतरा पैदा नही होता। टेक्नोलोजी का प्रयोग जिस सूक्ष्मता के साथ संहार की दिशा मे हुआ है, उतना लाभ की दिशा मे नही हुआ है। इसका कारण यही है कि साम्राज्यवाद की मनोवृत्ति मनुष्य मे विद्यमान है। एक समय था जब भूखण्ड का साम्राज्य चलता था। भूमि पर अधिकार करो, अधिकाधिक जमीन हड़पो, यह एक प्रकार का भौगोलिक साम्राज्यवाद था। आज आर्थिक साम्राज्यवाद का युग है। आज महत्त्व इस बात का नही है कि

भूमि कितनी है, महत्त्व इस बात का है कि हाथ मे बाजार कितना है । जापान एक छोटा देश है, बहुत ज्यादा जनसंख्या वाला देश नही है, किन्तु विश्व बाजार मे वह अधिकाधिक काबिज है ।

स्वार्थ और क्रूरता

आर्थिक साम्राज्य कायम करने की एक होड़-सी लगी हुई है । अमेरिका, इंग्लैंड, जापान, जर्मनी, ये सभी एक दूसरे को इस दौड़ में पीछे छोड़ देना चाहते है । इस आर्थिक साम्राज्यवाद के विस्तार मे टेक्नोलोजी का भरपूर प्रयोग हुआ है किन्तु मानव कल्याण के लिए कम हुआ है । औद्योगिक विकास की भी यही स्थिति है । तर्क तो यह दिया जाता है—औद्योगिक विकास जितना होगा, विकास के उतने ही अवसर बढ़ेगे, रोजगार बढ़ेगे । करुणा की बात उसके बाद आती है । जहां स्वार्थ प्रबल होता है, वहां करुणा प्रबल नही हो सकती । महावीर का यह निश्चित सिद्धान्त है—स्वार्थ जितना बढ़ेगा, क्रूरता भी उतनी ही बढ़ेगी । स्वार्थ जितना सीमित होगा, करुणा का उतना ही विस्तार होगा । स्वार्थ भी शिखर पर और करुणा भी शिखर पर, यह स्थिति कभी संभव नही है ।

तर्क रोजगार का

रोजगार का तर्क भी बहुत श्लथ है । जो युग आ रहा है, वह रोबोट का युग है, कम्प्यूटर का युग है । जहा हजार मजदूर काम करते थे, वहां आज पांच मजदूरो से ही काम चल जाएगा । रोजगार कहां मिला ? इस मशीनी युग मे आदमी ज्यादा बेरोजगार हो रहा है, होता जा रहा है । प्रत्यत्न है गरीबी और बेरोजगारी मिटाने का किन्तु जैसे-जैसे यान्त्रिक विकास हो रहा है, रोबोट मनुष्य के हाथ से काम छीन रहा है, गरीबी और बेरोजगारी उतनी ही रफ्तार से बढ़ रही है । इस इलेक्ट्रोनिक युग ने कहां तक पहुंचा दिया है—जापान जैसे देश मे तो धर्मगुरु का काम भी रोबोट से हो रहा है । किसी की मृत्यु हो जाती है, उसका परिवार प्रार्थना हेतु धर्मस्थल मे जाता है तो रोबोट उनका अभिवादन करता है, उन्हे धैर्य और सांत्वना देता है, पूरा धर्म का पाठ उन्हे सुना देता है । अन्त में आशीर्वाद देकर धन्यवाद के साथ उन्हे विदा करता है । यह सारा काम रोबोट करता है ।

अपेक्षा कहां है ?

मनुष्य की अपेक्षा कहां है ? ऐसा लगता है कि इस रोबोट और कम्प्युटर के

युग मे मनुष्य को मौन धारण कर हिमालय की किसी गुफा मे शरण ले लेनी चाहिए। मनुष्य ने बहुत श्रम किया है, अब उसके लिए विश्राम का क्षण आ गया है। आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा—**सर्वारंभा तन्दुलप्रस्थमूला**—मनुष्य की सारी प्रवृत्ति एक सेर चावल के लिए है। अगर सेर भर चावल की जरूरत न हो तो फिर प्रवृत्ति की भी कोई अपेक्षा न रहे। किन्तु इस औद्योगिक विकास ने अर्थ को मनुष्य पर इतना हावी कर दिया है कि उसके आगे वह गौण हो गया है।

प्रश्न प्रति व्यक्ति आय का

अर्थशास्त्र का एक उद्देश्य है प्रति व्यक्ति आय। निश्चित ही प्रति व्यक्ति आय उन देशो मे बढ़ी है, जो विकसित देश है, किन्तु आज ऐसा लगता है—पूंजीवाद (कैपिटलिज्म) भी अपनी अंतिम सासे गिनने लगा है। जापान, अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्रो मे भी बेरोजगारी बढने लगी है। आंकडे बताते है कि वहां भी गरीबी की रेखा के नीचे जीवन जीने की नौबत आ रही है। रूस की स्थितियो से परिचित लोग जानते है साम्यवादी शासनकाल मे भी हजारो-हजारो लोग सडक के किनारे पडे पाइपो मे शरण लेते थे। कोई मकान नही था, बडे-बडे पाइपो मे लोग रैन-बसेरा करते थे। आज तो वहा भयकर गरीबी और भुखमरी की सी स्थिति बनती जा रही है। खाने की चीजो के लिए लम्बी क्यू लगती है।

गांधीजी का कथन

यदि प्रति व्यक्ति आय समान होती, तो समस्या का समाधान होता किन्तु वैसा हुआ नही। गाधीजी ने कहा था—'आर्थिक समानता का आदर्श आदमी कभी प्राप्त नही कर सकेगा। क्योकि वैयक्तिक क्षमता भिन्न-भिन्न है, योग्यता भिन्न-भिन्न है। हर व्यक्ति इस बिन्दु पर पहुंच नही सकता।' स्वार्थ को उभारने का परिणाम यह आया—आज दुनिया की सारी पूजी कुछ हजार लोगो के हाथो मे ही केन्द्रित हो गई है। इतने बडे-बडे धनी बन गए है कि सिवाय प्रतिष्ठा और झूठे अहं के पोषण के उनकी सूची मे कुछ है ही नहीं। दुनिया का प्रथम नम्बर का धनी, द्वितीय नम्बर का धनी और तृतीय नम्बर का धनी—बस यही उनकी सूची है। इसलिए प्रति व्यक्ति आय वाली बात भी जटिल बनती जा रही है।

आकांक्षा जीवन स्तर की

स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग की धारणा ने भी आदमी को बहुत धोखे मे डाला है,

दिग्मूढ बनाया है। हर व्यक्ति के मन मे लालसा है कि जीवन स्तर उन्नत होना चाहिए। समस्या यह है—उसके लिए पास मे साधन नही है। प्रतिष्ठा का मानदण्ड, विकास का चिह्न यह मान लिया गया कि इतनी बाते तो होनी ही चाहिए। यदि यह धारणा होती — जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति होनी चाहिए तो कोई समस्या नही थी। यह एक स्वस्थ चिन्तन है। पशु-पक्षी भी अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करते है तो मनुष्य जैसा बुद्धिमान् प्राणी न करे, यह कैसे हो सकता है? किन्तु इस स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग की धारणा ने प्राथमिक आवश्यकताओ को गौण कर दिया, अनावश्यक वस्तुओ के प्रति एक ललक मनुष्य के भीतर पैदा कर दी।

मनुष्य की तीन कोटियां

महावीर ने मनुष्य का अध्ययन किया, मनुष्य की वृत्तियो का अध्ययन किया उन्होने बतलाया—मनुष्य अलग-अलग प्रकृति का होता है, सबको एक ही तराजू से मत तोलो। उन्होने तीन वर्गो मे मनुष्य को विभाजित किया—

- महेच्छ
- अल्पेच्छ
- इच्छाजयी।

पहली कोटि के मनुष्य वे है, जो महा इच्छा महारंभ वाले है। दूसरी कोटि के मनुष्य वे है, जो अल्पेच्छ, अल्पारंभ है। तीसरी कोटि के मनुष्य वे है, जो इच्छाजयी अनारंभ है।

महेच्छा

आजका अर्थशास्त्र कहता है — इच्छा को बढ़ाओ। इच्छा बढ़ेगी तो महारंभ होगा, बडी प्रवृत्ति होगी। दूसरा तत्त्व है अल्प इच्छा, अल्पारभ। इच्छा भी अल्प और आरम्भ भी अल्प। महावीर ने दोनो वृत्तियो का विश्लेषण करते हुए कहा—जो महारंभी होगा, महेच्छ होगा, वह आजीविका अधर्म के साथ चलाएगा, धर्म का विचार नहीं करेगा। ऐसा कह कर महावीर ने मानो आज के अर्थशास्त्र की भविष्यवाणी कर दी थी। महावीर ने कहा—वह पुरुष चण्ड, रुद्र, क्षुद्र, वक्र, दुःशील, दुष्प्रत्यानंद होगा महेच्छ पुरुष की प्रकृति का महावीर ने सजीव चित्रण किया है। महाइच्छा और महारंभ प्रवृत्ति वाला व्यक्ति कोई विचार नही करेगा। अपने लिए उपयोगी है, लाभ मिल रहा है तो वह किसी के प्राणवियोजन से भी कपित नही होगा।

धन के लिए

आज विलासिता और सौन्दर्य प्रसाधनो के निर्माण मे कितने-कितने निरीह और मूक पशु-पक्षियो की निर्मम हत्या की जा रही है। मुलायम और कठोर प्लास्टिक बनाने के लिए स्थापित किए जा रहे कारखानो मे लाखो चूजो के अविकसित परो को काटकर इस्तेमाल किया जा रहा है। मास के निर्यात के लिए कितने भी बूचड़खाने लगाने पडे, कोई चिन्ता की बात नही है। सारा कुछ धन के पीछे हो रहा है। इतना चण्ड, रौद्र हुए बिना विपुल धन की प्राप्ति नही हो सकती। माया, कूट-कपट, प्रपंच — यह सब भी इसके पीछे करना पडता है। जाली खाते, रिश्वत, धमकी, हत्या, अपहरण—आज क्या-क्या नही किया जा रहा है। यह सब उस महाइच्छा वाले वर्ग का चित्रण है, जो परिग्रह मे निरन्तर डूबा हुआ है।

यह सोचा भी नही जा सकता — इच्छा, परिग्रह और आरम्भ को बढ़ाकर इन दुष्प्रवृत्तियो से कोई बच सकेगा। हम प्रिय के साथ हित की बात सोचे। इच्छा को अल्प किए बिना, नियत्रित किए बिना हित की बात को जोड़ा नही जा सकता।

अल्पेच्छ

एक मनुष्य अल्पेच्छ होता है। इच्छा है, किन्तु अल्प है। ऐसा व्यक्ति कारखाना लगाएगा, किन्तु पूजी को केन्द्रित नही करेगा। महात्मा गाधी ने जो विकेन्द्रित अर्थनीति और विकेन्द्रित सत्ता की बात कही, वह महावीर के इसी अल्पेच्छ शब्द का अनुवाद है। अल्पेच्छ या अल्पारंभ का तात्पर्य ही विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था है। महावीर ने कहा—धम्मेणं वित्ते कप्पेमाणा — अल्प इच्छा वाला व्यक्ति धर्म के साथ अपनी आजीविका चलाता है।

यह है करुणा

हमारे सामने दो शब्द हैं—अल्पेच्छ और महेच्छ। एक है धर्म के साथ जीविका चलाने वाला, दूसरा है अधर्म के साथ जीविका चलाने वाला। धर्म के साथ का तात्पर्य है — न्यायसंगत, करुणा के साथ। महावीर के एक परम उपासक श्रावक श्रीमद्राजचन्द्र की चर्चा करूं। गाधीजी को अहिंसा का बीजमंत्र देने वाले और जिन्हे बोधिदीप मिला तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य से। श्रीमद्राजचन्द्र ने एक व्यापरी से सौदा किया। जवाहरात का व्यवसाय था। भावो मे यकायक तेजी आ गई। सामने वाले व्यापारी को एक मुश्त पचास हजार का घाटा हो रहा था। श्रीमद्राजचन्द्र ने उससे कहा—तुम एग्रीमेट का वह रुक्का लाओ। व्यापारी बोला—श्रीमन्! आप

चिन्ता न करे। मै आपकी एक-एक पाई चुका दूंगा, किन्तु अभी मेरी स्थिति नही है। श्रीमद्राजचरद्र ने कहा—चुकाने या न चुकाने की बात मे नही कर रहा। मै एक बार वह रुक्का देखना चाहता हूं। उसने सोचा, रुक्का पाते ही ये कोर्ट मे केस कर देगे और मै फस जाऊंगा। इसलिए वह न देने आग्रह करता रहा किन्तु अन्तत. उसे रुक्का देना ही पड़ा। रुक्का हाथ मे लेकर उसे फाडते हुए श्रीमद्राजचन्द्र ने कहा—'राजचन्द्र दूध पी सकता है, किसी का खून नही पी सकता। यह सौदा मै रद्द करता हू।'

इसका नाम है करुणा। अल्प इच्छा वाला व्यक्ति धर्म के साथ अपनी आजीविका चलाता है, वह किसी के साथ अन्याय नही करता है, क्रूर व्यवहार नही करता है, शोषण नही करता है, हेराफेरी नही करता है, धरोहर को छिपाता नही है।

इच्छाजयी

तीसरे प्रकार का व्यक्ति होता है अनिच्छ। उसे हम सामाजिक प्राणी नही कहेगे। वह अनिच्छ या इच्छाजयी होता है। जो साधु-संन्यासी बनकर समाज से अलग हो जाता है, उसके कोई प्रवृत्ति नही, कोई कारखाना नही, कोई व्यापार नही, केवल साधना का जीवन होता है। भगवान् महावीर ने कहा—तीसरी कोटी की बात छोड़ दे। वैसे इस कोटि के व्यक्ति भी कम नही हुए। महावीर के उस व्रती समाज मे अल्पेच्छ लोगो की संख्या पांच लाख थी और इच्छाजयी लोगो की सख्या पचास हजार थी। योरोप मे हमारे समण समणिया जाते है तो वहां के लोग यह देखकर आश्चर्य करते है—ये सर्दी, गर्मी कैसे सहन करते है ? पैसा नही रखते है। आज के युग मे कोई आदमी ऐसा हो सकता है, जिसके पास पैसा न हो? वहा के लोग कल्पना भी नही करते।

उपेक्षा मनुष्य की

आधुनिक अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण है— निजी लाभार्जन, मनुष्य की प्रकृति की उपेक्षा और केवल लाभ की उपेक्षा। जिस वस्तु मे कोई लाभ नही, वह आज की अर्थशास्त्रीय दृष्टि से बिल्कुल व्यर्थ है। महत्त्व है बाजार का, वस्तु का कोई मूल्य नही है। मनुष्य की प्रकृति की बिल्कुल उपेक्षा की गई। व्रती समाज मे मनुष्य की प्रकृति को महत्त्व दिया गया। यह दोनो मे दृष्टिकोण का बड़ा अन्तर है।

अर्थशास्त्र का योगदान

आधुनिक अर्थशास्त्र ने समस्याओ को समाधान नही दिया है, यदि यह कहे तो यह एकागी दृष्टिकोण होगा। महावीर को समझने वाला, कभी एकागी दृष्टिकोण से

विचार नही करता। इसमे कोई सन्देह नही कि आधुनिक अर्थशास्त्र की कुछ अवधारणो ने समाज की कुछ समस्याओं को सुलझाया है और गरीब को भी कुछ राहत दी है। किन्तु जितनी राहत दी है, उतनी ही दूसरी समस्याए पैदा कर दी है। तटस्थ चितन करे तो यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही होगी कि वर्तमान अर्थशास्त्रीय अवधारणाओ ने हिसा को भी प्रोत्साहन दिया है।

अहिंसा का अर्थशास्त्र

पूज्य गुरुदेव जैनविश्वभारती के प्रागण मे विराज रहे थे। अजमेर विश्व विद्यालय के उपकुलपति डॉ॰ आहूजा आए। वार्तालाप के प्रसग मे हमने कहा—हम चाहते है अहिंसा का अर्थशास्त्र। उन्होने कहा—यह कौन सा अर्थशास्त्र होगा? अर्थशास्त्र का तो जन्म ही हिसा से होता है। उसमे अहिसा की बात कहा से आएगी?

हम इस सचाई को समझे—केवल गरीबी को मिटाने वाला अर्थशास्त्र ही हमारे लिए उपयोगी नही है। हमारे लिए वह अर्थशास्त्र भी उपयोगी है, जो गरीबी को मिटाए और साथ-साथ हिसा का सवर्द्धन भी न करे। आर्थिक समृद्धि और अहिसा की समृद्धि दोनो की समन्वित प्रणाली की आज अपेक्षा है। महावीर ने व्रती समाज की जो कल्पना दी, उसमे इस प्रणाली के लिए पर्याप्त तत्त्व मिलते है। उन तत्त्वो के द्वारा इस समन्वय को पूरा किया जा सकता है।

अहिंसा और शान्ति का अर्थशास्त्र

आधुनिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य शान्ति नही है और अहिसा भी नही है। उसका उद्देश्य है आर्थिक समृद्धि। प्रत्येक मनुष्य धनवान् बने, कोई गरीव न रहे, मनुष्य की प्राथमिक अनिवार्यताए पूरी हो। इतना ही नही, वह साधन सम्पन्न बने। आर्थिक समृद्धि के लिए साधन के रूप मे लोभ, इच्छा, आवश्यकता और उत्पादन बढाने की वात भी स्वीकृत है।

कम्युनिज्म का उद्देश्य

कम्युनिज्म का उद्देश्य रहा सत्ता को हथियाना। जो निम्न वर्ग है, पिछडा या मजदूर वर्ग है, उसके हाथ मे सत्ता आए। किन्तु कैसे आए, इसमे कोई विचार नहीं रहा, साधन-शुद्धि की कोई अनिवार्यता नही रही। अगर अच्छे साधन से आए तो अच्छी वात, किन्तु अच्छे साधन से न आए तो जैसे-तैसे सत्ता पर कब्जा किया जाए। अर्थशास्त्र मे भी यही वात है। आर्थिक समृद्धि बढनी चाहिए। उसके लिए लोभ और स्पर्धा अनिवार्य मान लिए गए। जितना लोभ वढ़ेगा, अनिवार्यताए वढ़ेगी, उतना उत्पादन वढ़ेगा, आर्थिक विकास होगा। जितनी स्पर्धा होगी, उतना ही आर्थिक विकास आगे वढ़ेगा। इस स्थिति मे शान्ति और अहिसा की वात गौण हो जाती है।

अर्थशास्त्र का उद्देश्य

यह स्वीकार करना चाहिए—अर्थशास्त्र के सामने शान्ति का प्रश्न मुख्य नही है, नैतिकता का प्रश्न भी मुख्य नही है। डॉ॰ मार्शल आदि कुछ उत्तरवर्ती अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि परिणामत नैतिकता आनी चाहिए, किन्तु नैतिकता इसमें अनिवार्य नही है। केनिज ने कहा—'जव हम आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाएगे तो नैतिकता पर विचार करने का अवसर आएगा। अभी उसके लिए उचित समय नहीं है। अभी जो गलत है, वह भी हमारे लिए उपयोगी है।' अर्थशास्त्र उपयोगिता के आधार पर चलता है, इसलिए उसमे गलत कुछ भी नहीं है। जो उपयोगी है, वह सही है, वह हमारे लिए वाछनीय है।

गांधी का दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण आज के अर्थशास्त्र का है। प्रश्न है—महावीर का दृष्टिकोण क्या रहा? महावीर से पहले गांधी के दृष्टिकोण की चर्चा करें। महात्मा गांधी ने साम्यवाद के कुछ पहलुओं का विरोध किया। उद्योगवाद और केन्द्रवाद—इन दो पहलुओ का उन्होने विशेष विरोध किया। उन्होने कहा—'सेवा का केन्द्रीकरण और पूंजी का केन्द्रीकरण हिंसा को बढ़ाने वाला है। जहां-जहां सत्ता केन्द्रित होती है, पूंजी केन्द्रित होती है, वहां-वहां समस्याएं बढ़ती है।' गांधी की यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। जहां भी सत्ता और पूंजी का केन्द्रीकरण हुआ, वहां हिंसा बढ़ी। गांधी ने एक और मार्मिक बात कही— 'हिंसा की नीव पर खड़ा कोई भी शासन टिक नही सकता, साम्यवाद भी टिकेगा नही ।' गांधी की कई दशक पहले की गई यह भविष्यवाणी सही निकली। हिंसा के आधार पर कोई भी वस्तु स्थायी नही हो सकती। इस आधार पर उन्होने उद्योगवाद का विरोध किया।

उद्योगवाद का परिणाम

उद्योगवाद आर्थिक गुलामी का ही रूपान्तरण है, उसका एक पर्याय है। जैसे-जैसे उद्योग केन्द्रित होगे, आर्थिक गुलामी की स्थिति अवश्य बनेगी, फलतः शोषण होगा। शोषण केवल समाज का ही नही होगा, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषण करेगा। जिस राष्ट्र के पास औद्योगिक क्षमता बढ़ेगी, वह उस क्षमता का उपयोग दूसरे राष्ट्र के शोषण मे करेगा।

उद्योगवाद मे दो बाते साथ चलती है—क्षमता और क्षमता के द्वारा शोषण तथा हिंसा। जहां उद्योगवाद को खुला अवकाश मिलता है, वहां युद्ध की समस्याए उत्पन्न होती है। महात्मा गांधी ने उद्योगवाद के विरोध मे विकेन्द्रित उद्योग की बात कही, केन्द्रीकृत पूंजी के प्रतिपक्ष में विकेन्द्रित पूंजी और ट्रस्टीशिप की बात कही। इसका अर्थ है—गांधी जी ने अहिंसा और शान्ति को सामने रखकर अपने अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया।

सुखवाद की अवधारणा

हम महावीर की ओर चले। महावीर के सामने मुख्य प्रश्न था संयम का, शान्ति और अहिंसा का। जहां संयम और शान्ति है, वहां अहिंसा है। अर्थशास्त्र मे मुख्य प्रश्न रहता है संतुष्टि का। जनता को आवश्यकताओ की संतुष्टि मिले। संतुष्टि और सुख—यह अर्थशास्त्र का मुख्य ध्येय रहा। सुखवाद एक दार्शनिक अवधारणा रही

है। पश्चिम मे सुखवादी दृष्टिकोण पर काफी विचार हुआ है। भारत मे भी यह दृष्टिकोण रहा है किन्तु उसके साथ एक और भी दृष्टिकोण रहा है, वह है दुःखवाद का। सुख प्राप्त है, किन्तु जैसे-तैसे प्राप्त नही है।

महावीर का दृष्टिकोण

महावीर के सामने सतुष्टि और सुख का प्रश्न गौण था, शान्ति का प्रश्न मुख्य था। जब शान्ति का प्रश्न मुख्य होता है, दृष्टिकोण बदल जाता है। जहां शान्ति का प्रश्न है, वहा साधनशुद्धि का विचार मुख्य होगा।

महावीर ने एक गृहस्थ के लिए अर्थोर्जन का निषेध नही किया। वे स्वयं अपरिग्रही थे, किन्तु उन्होने गृहस्थ के लिए अपरिग्रह का विधान नही किया। यह सम्भव भी नही था। एक धर्माचार्य असम्भव बात कैसे कर सकते थे? उन्होने अनेकान्तवाद की दृष्टि से मध्यममार्ग बतलाया—एक गृहस्थ अपरिग्रही नही हो सकता, फिर भी उसे इच्छा का परिमाण करना चाहिए, अर्थार्जन मे साधनशुद्धि का विचार करना चाहिए।

अर्थशास्त्र के तीन घटक

अर्थशास्त्र मे तीन बातो पर मुख्य रूप से विचार किया जाता है—

- उत्पादन
- वितरण
- उपभोग

महावीर के समय उत्पादन का मुख्य स्रोत था कृषि। वह युग कृषि का युग था। उस समय उद्योग नही थे। मुख्य था कृषि का व्यवसाय। कृषि के सन्दर्भ मे उन्होने एक गृहस्थ को जो मार्ग-दर्शन दिया, वह यह है—कृषि मे भी साधन-शुद्धि का विचार करो।

साधन शुद्धि के सूत्र

महावीर ने उत्पादन मे साधन-शुद्धि के लिए पाच सूत्र दिए—

- वंध न करना
- वध न करना
- छविच्छेद न करना।
- अतिभार न लादना।
- भक्तपान का विच्छेद न करना

उन्होने जिस व्रती समाज का निर्माण किया, उसके लिए ये पांच विधान किए।

- कृषि का व्यवसाय करते हो तो बन्ध का प्रयोग मत करो। बांध कर मत रखो, न पशुओ को बाधो, न मनुष्यो को बांधो।
- वध न करो। पीटो मत, मारो मत, सताओ मत।
- छविच्छेद मत करो। उस युग मे अंगभंग करने का दण्ड भी विधान मे था। दास प्रथा का युग था। अगभंग करने की सजा भी दी जाती थी। दण्ड स्वरूप हाथ काट देते थे, पैर काट देते थे, शरीर के दूसरे अवयव काट देते थे। महावीर ने कहा—अंग-भग मत करो।
- अतिभार मत लादो, मनुष्यो पर भी नही और पशुओ पर भी नही।
- आजीविका का विच्छेद मत करो, किसी का शोषण मत करो। यह न हो कि श्रम अधिक हो और पारिश्रमिक कम मिले।

श्रम और अर्थ

उत्पादन का सारा श्रम अर्थ के साथ चलता है। श्रम का मूल्य क्या है? एक व्यक्ति श्रम करता है, उसके प्रतिफल मे उसे क्या मिलता है? महावीर के समय से लेकर साम्यवाद और गाधीजी के समय तक इस पर काफी विचार चला है—कितना श्रम और कितना अर्थ। इस सदर्भ मे साम्यवाद का सिद्धान्त रहा—योग्यता के अनुरूप कार्य और कार्य के अनुरूप आजीविका या दाम। गांधीजी ने इसमे कुछ सशोधन किया। उन्होने कहा—'आवश्यकता की कोई एक परिभाषा नही हो सकती इसलिए उसका एक यांत्रिक रूप नही होना चाहिए। यह विवेक पर निर्भर होना चाहिए। जितना काम, उतना दाम।'

संयम को जोड़ें

महावीर ने सूत्र दिया—श्रम और अर्थ के बीच मे संयम को जोडो। केवल श्रम और अर्थ ही नही, बीच मे सयम भी रहे। श्रम का भी शोषण न हो, आजीविका का भी विच्छेद न हो। कल्पना करे—एक आदमी समर्थ है, वह ज्यादा काम कर लेता है। एक आदमी कमजोर है, उतना काम नहीं कर पाता। किन्तु रोटी तो दोनो को चाहिए। यदि श्रम के आधार पर ही उन्हे मूल्य दिया जाएगा तो आजीविका का विच्छेद हो जाएगा, शोषण हो जाएगा। जो प्राथमिक अनिवार्यताएं, आवश्यकताएं है, उनकी पूर्ति होनी चाहिए। महावीर ने बड़े महत्त्वपूर्ण शब्द का चुनाव किया—भक्तपान विच्छेद—रोटी-पानी की कमी न हो, उसका विच्छेद न हो।

तीन निर्देश

उत्पादन मे बहुत सारी वस्तुएं आती है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन से कुछ कारको को हटाया है। डा॰ सेठ और डा॰ मार्शल ने वेश्यावृत्ति को उत्पादन से अलग कर दिया। इसे उत्पादक श्रम नही माना। उन्होने इस पर नैतिकता की दृष्टि से विचार किया। महावीर और गांधीजी की दृष्टि से विचार करे तो और भी बहुत सारी बाते उत्पादन से हट जाएंगी। महावीर ने उत्पादन के सदर्भ मे तीन निर्देश दिए—

- अहिसप्पयाणे—हिसक शस्त्रो का निर्माण न करना
- असंजुत्ताहिकरणे—शस्त्रो का संयोजन करना
- अपावकम्मोवदेसे—- पाप कर्म का, हिंसा का प्रशिक्षण न देना।

ये तीन निर्देश अर्थशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

शस्त्र का निर्माण न करे

हिंसक अस्त्रो का निर्माण उत्पादन की सूची से हटना चाहिए। व्रती समाज के लिए तो यह अनिवार्य था कि वह शस्त्रोपादन नही कर सकता। वह केवल निर्माण ही नही, हिसक शस्त्र का विक्रय भी नही कर सकता था। आज तो यह बहुत बड़ा व्यवसाय वन चुका है। अरबो-खरबो डालर के अस्त्र-शस्त्रो का क्रय-विक्रय हो रहा है। इनके निर्माण मे जोरदार प्रतिस्पर्धा चल रही है। आधुनकि अर्थशास्त्र मे शोषण की जो बात कही जाती है, उसका एक बड़ा रूप है खुला बाजार। यह फ्री मार्केट आज शोषण का अड्डा बन गया है। शस्त्रो का भी खुला बाजार है। जहा चाहे, शस्त्र खरीद ले। लाइसेस प्रणाली कारगर सिद्ध नही हो रही है। कुछ राष्ट्रो मे तो लाइसेस की जरूरत भी नही है। यह शस्त्र निर्माण और शस्त्र विक्रय व्रती समाज का सदस्य नही कर सकता।

संयोजन न करे

दूसरा निर्देश है शस्त्र के पुर्जो का सयोजन करना। व्रती समाज का सदस्य शस्त्रो के पुर्जो का आयात-निर्यात न करे, उन्हे जोड़कर तैयार भी न करे।

प्रशिक्षण न दे

तीसरा निर्देश है—पाप कर्म का उपदेश न देना। हिंसा का, युद्ध का प्रशिक्षण देना भी एक व्रती के लिए वर्जित था। आज की स्थिति देखे। हिंसा का प्रशिक्षण देने के लिए ऐसे स्कूल खोले गए है, जहा आंतकवाद का प्रशिक्षण दिया जाता है, उसकी

सूक्ष्म तकनीक सिखाई जाती है । कैसे आतक के द्वारा पूरे समाज और राष्ट्र को भयभीत किया जा सकता है, इसकी ट्रेनिंग दी जाती है ।

इस संदर्भ मे महावीर ने व्रती समाज के लिए जो विधान किए, वे अहिसा और शान्ति के अर्थशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

कर्मादान

उद्योग के संदर्भ मे भी महावीर ने कुछ सूत्र दिए । गाधीजी ने बड़े उद्योगो का विरोध किया । महावीर ने अल्पेच्छा और अल्पारंभ यानी विकेन्द्रित नीति का सूत्र सामने रखा । केन्द्रीकरण के विषय मे महावीर ने कहा—यह हिसा को बढ़ावा देती है । उस समय के जो उद्योग थे, उनका वर्गीकरण हुआ । उन्हे व्रत की आचार-सहिता मे कर्मादान कहा गया । पन्द्रह कर्मादान बतलाए गए । व्रती समाज के सदस्य के लिए, श्रावक के लिए पन्द्रह कर्मादान का निषेध किया गया, उनके सीमाकरण की बात कही गई । उस समय का एक उद्योग था—इगालकम्मे—कोयले का उद्योग । एक था—वणकम्मे—ईधन का उद्योग । एक उद्योग था, जंगलो को जलाना । एक उद्योग था खेती की भूमि बढ़ाने के लिए तालाब आदि को सुखाना । उस समय ये कुछ उद्योग चलते थे ।

महावीर ने कहा—इनकी भी सीमा करो, निरकुश रूप मे उद्योगो को विस्तार मत दो और अपने हाथ मे इन्हे ज्यादा केन्द्रित मत करो । महावीर का एक श्रावक था—उद्दालपुत्र । जाति का कुम्हार था । उसकी पाच सौ दुकाने थी । सैकड़ो-सैकडो आवा उसके चलते थे । कुम्भकार व्यवसाय का एक बडा उद्योगपति था । उद्दालपुत्र ने महावीर से सीमाकरण का व्रत स्वीकार किया था ।

सीमाकरण का अर्थ

असीम और ससीम—ये दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है । असीम का अर्थ है हिंसा की ओर प्रस्थान । सीमाकरण का अर्थ है शान्ति की ओर प्रस्थान । एक योग्य व्यक्ति, जिसमे व्यावसायिक क्षमता है, बौद्धिक क्षमता है, वह व्यक्ति अपनी व्यावसायिक क्षमता के द्वारा इतना अर्जित कर लेता है कि हजारो-लाखो के लिए एक गड्ढा बन जाता है । उसके लिए सीमा कुछ नही है । आखिर समृद्धि बढ़े तो कितनी बढ़े ? इस प्रश्न के संदर्भ मे कहा गया—पर्याप्त समृद्धि होनी चाहिए किन्तु पर्याप्त की कुछ सीमा तो होगी । अपर्याप्त कहा तक होगा ? एक व्यक्ति के लिए एक नही, दस मकान भी अपर्याप्त है । कलकत्ता मे भी एक कोठी चाहिए । बम्बई, दिल्ली और मद्रास में भी

एक एक भव्य कोठी चाहिए। जहां जाए, वहां उसके लिए अपना एक घर हो। कहां-कहां बगले बनाता रहेगा। कही कोई सीमा तो निर्धारित करनी होगी। अर्थ का संग्रह इतना असीम बन जाए तो फिर उसका परिणाम क्या होगा, यह सोचा भी नही जा सकता।

आधुनिक अर्थशास्त्र की समस्या

साधन-शुद्धि का विचार न होना आधुनिक अर्थशास्त्र की सबसे बडी समस्या है। इसके बिना हम अहिसा और शान्ति की बात नही सोच सकते। वर्तमान मे हो रहे युद्धो के पीछे क्या यह असीम वाली बात नही है? कारण खोजें तो निश्चित ही इस सचाई का पता चलेगा। अस्त्र-शस्त्रो के बड़े-बड़े कारखाने है। शस्त्र-उद्योग आज समूचे संसार मे अपना प्रभुत्व स्थापित किए हुए है। जब युद्ध थमते है, शान्ति स्थापित होती है, शस्त्रो के निर्माता शक्तिशाली राष्ट्र विश्व के किसी न किसी कोने मे युद्ध की चिनगारी सुलगा ही देते है। उद्देश्य है सिर्फ अपने हथियारो की खपत। तबाही मचाने वाला यह उद्योग शांतिकाल मे खुद तबाह हो जाता है। शस्त्र का उद्योग एक प्रकार से युद्ध को चालू करने का आधार है। अरबो-खरबो डालर से चल रहे ये उद्योग हिंसा की बुनियाद पर खड़े है।

अंतर आकाश पाताल का

हम पूरे विश्व की आर्थिक मीमांसा करे। सारे संसार मे शस्त्र-निर्माण पर हो रहे खर्च को देखकर दग रह जाएंगे। हिन्दुस्तान की सबसे अनिवार्य आवश्यकता है शिक्षा, जिससे व्यक्तित्व का, जीवन का निर्माण होता है। शिक्षा और सुरक्षा पर हो रहे खर्च की तुलना करे तो आकाश-पाताल का अतर दिखाई देगा। शिक्षा पर मुश्किल से दो-तीन प्रतिशत व्यय होता है और सुरक्षा पर भारी-भरकम बजट बनते है। पूरे विश्व के सदर्भ मे देखे तो आधी से भी ज्यादा पूंजी सुरक्षा पर खर्च हो रही है। यदि यह पूजी गरीबी के उन्मूलन और शान्ति की स्थापना मे लगे तो समाधान प्राप्त हो जाए। लेकिन ऐसा वे नही होने देगे, जो शस्त्र-उद्योग के स्वामी बने हुए है।

उत्पादन का विवेक

अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण मे एक विरोधाभास आ गया। उत्पादन किसका होना चाहिए, यह विवेक ही समाप्त हो गया। मादक वस्तुओ का कितना उत्पादन होता है। शराब का कितना बड़ा उद्योग है। अफीम, चरस, हेरोइन आदि ड्रग्स की बात जाने दे। पाउच पैक मे उपलब्ध जर्दे और पान मसाले का ही करोड़ो का कारोबार हो रहा

है। यह सब क्यो हो रहा है? तम्बाकू न हो तो जर्दा कहां से आए, अफीम न हो तो हेरोइन कहां से आए? उत्पादन की एक सीमा होनी चाहिए, एक विवेक होना चाहिए। किस वस्तु का उत्पादन बढ़े? जो जीवन की प्राथमिक अनिवार्यताएं नही है, उनका उत्पादन या तो विलासिता की ओर ले जाता है या मादकता की ओर। आखिर उन वस्तुओ का उत्पादन क्यो हो, जो मनुष्य के लिए हर दृष्टि से हानिकर है?

कब्जा चेतना पर

आज केवल आर्थिक लाभ के लिए किए जा रहे ऐसे हानिप्रद उत्पादनो ने पूरे विश्व के सामने भयकर सकट खड़ा कर दिया है। भारत सहित दुनिया के तमाम राष्ट्र मादक पदार्थो की तस्करी से जूझ रहे है। शस्त्र के उद्योगपितयो ने जैसे बाजार पर अपना कब्जा कर रखा है वैसे ही मादक वस्तुओ के विक्रेताओ मे भी बाजार पर कब्जा कर रखा है। केवल बाजार पर ही नही, मनुष्य की चेतना पर भी कब्जा कर रखा है। मादक वस्तुओ का आदी व्यक्ति इनके अभाव मे कैसे छटपटाता है, यह केवल वही जान सकता है। वह उस समय मरणान्तक कष्ट झेलता है।

महावीर ने कहा—उत्पादन की भी सीमा करो। हर चीज का उत्पादन न हो। मादक वस्तुओ का न उत्पादन हो और न सेवन। जो पाप कर्मोपदेश है, पाप कर्म का कारण है, उनका भी वर्जन होना चाहिए। आर्थिक व्यवसाय की दृष्टि से जो सूत्र उन्होने दिए, वे अहिंसा और शान्ति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

व्यवसाय शुद्धि के सूत्र

महावीर ने व्यवसाय के लिए साधन शुद्धि के अनेक सूत्र दिए—

- ❑ कूट तोल-माप मत करो।
- ❑ वस्तु दिखाओ कुछ और दो कुछ, यह मत करो।
- ❑ किसी की धरोहर का गबन मत करो।

उपासक दशा सूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि ने लिखा—'उस समय मिलावट बहुत चलती थी, रिश्वत भी बहुत चलती थी।' मानव की यह प्रकृति सदा रही है, धन के प्रति उसकी लालसा हर युग मे हर समय मे रही है। मिलावट भी उस समय विभिन्न प्रकार से चलती थी और रिश्वत भी बहुत चलती थी।

चाणक्य का कथन

चाणक्य ने लिखा—'पानी मे तैरने वाली मछली संभव है आकाश मे उड़ने लगे, किन्तु राज्यकर्मचारी रिश्वत न ले, यह संभव नही।' मनुष्य की प्रकृति का सदा एक

रूप रहा है। अर्थ के प्रति लालसा, सुविधा और इन्द्रियो का सुख—ये सदा काम्य रहे है और जब से इन्हे बौद्धिकवादी समर्थन मिला, तब से और भी ज्यादा उच्छृखलता आ गई। समाजवाद का आधार भी भौतिकवाद है और पूंजीवाद का आधार भी भौतिकवाद है। जहां केवल भौतिकवाद है, वहां अर्थ, सुविधा और इन्द्रियसुख को ही प्रधानता मिलेगी, इसीलिए इस उच्छृंखलता से हमे कोई आश्चर्य नही है।

प्रश्न संयम और तृप्ति का

मनुष्य के सामने सदा से दो मार्ग रहे है—

- इन्द्रिय संयम का
- इन्द्रिय तृप्ति का

प्राचीन अर्थशास्त्र ने भी इन्द्रिय तृप्ति की बात सामने रखी। किन्तु यह निर्देश भी दिया—इन्द्रिय तृप्ति करो, साथ-साथ इन्द्रिय संयम भी करो। चाणक्य ने राजा और शासक के लिए कहा—राजा को इन्द्रियजयी होना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या—ये जो छह शत्रु है, राजा को इनका विजेता होना चाहिए। एक सामाजिक प्राणी के लिए इन्द्रिय तृप्ति आवश्यक है तो इन्द्रियो का सयम भी आवश्यक है। यह सीमा-विवेक का सूत्र है—इन्द्रिय-तृप्ति करो, किन्तु एक सीमा मे। उपभोग करो, किन्तु एक सीमा के साथ। उसके बाद संयम करो। यदि ऐसा हो तो यह सयम का अर्थशास्त्र बनेगा और जो संयम का अर्थशास्त्र बनेगा, वह अहिसा का अर्थशास्त्र बनेगा, शान्ति का अर्थशास्त्र होगा।

वर्तमान दृष्टिकोण का परिणाम

वर्तमान का एक दृष्टिकोण रहा—हम नैतिकता पर अभी विचार नही करेगे, सयम पर विचार नही करेगे, अहिंसा और शान्ति पर विचार नही करेगे, जब समय आएगा तव करेगे। इसका अर्थ है—जव तक वह समय न आए, तब तक समाज असयम के परिणाम भोगता चला जाए। आज परिणाम हमारे सामने मुखर हो रहे है। उत्पादन के विषय मे महावीर ने हमे जो विवेक दिया, जो आचारसंहिता दी, उससे अर्थशास्त्र के भी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त फलित होते है। यदि इनका अनुशीलन किया जाए, प्रयोग किया जाए तो वर्तमान समाज अनेक विकृतियो से वच सकता है।

वितरण का सिद्धान्त

दूसरा है वितरण का सिद्धान्त। आवादी वढ़ी और साधन कम हुए। साधनो पर राज्य का नियत्रण वढ़ा। वितरण की समस्या पैदा हो गई। यह स्वर प्रखर वना—

वितरण समान होना चाहिए। महावीर के समय मे वितरण कोई समस्या नही थी, क्योकि आबादी भी कम थी, प्राथमिक आवश्यकताओ के साधन भी इतने दुर्लभ नही थे और अपेक्षाए भी कम थी। आज विज्ञापनो ने आवश्यकताओ को बहुत बढ़ाया है। उस युग मे आवागमन और यातायात के इतने साधन भी नही थे। चौबीस कोस दूर की बात को पहुंचने मे बहुत समय लगता था। आज के संचार साधनो और विज्ञापनो ने इतनी कृत्रिम आवश्यकताएं उभार दी है कि अब और तब के समय मे कोई तुलना ही नही हो सकती। उस समय हर गांव अपनी आवश्यकता की चीज पैदा करता और उसका उपभोग करता। वितरण की समस्या का प्रश्न ही नही था।

स्वदेशी का स्रोत

गाधीजी ने स्वदेशी आन्दोलन चलाया और आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियो के आगमन पर कुछ राजनीतिक दल फिर जिस स्वदेशी की बात कर रहे है, उस स्वदेशी का मूल स्रोत मिलता है महावीर के द्वारा प्रदत्त व्रत की आचार-संहिता मे। एक व्रत है दिग्व्रत—दिशा का परिमाण करो। दिल्ली मे रहने वाला परिमाण करेगा—दिल्ली के बाहर की किसी वस्तु का उपभोग नही करूंगा। कपड़ा पहनूगा तो दिल्ली मे बना हुआ। अनाज खाऊंगा तो दिल्ली की सीमा मे पैदा हुआ अनाज ही खाऊंगा। यह दिग्व्रत है, जो स्वदेशी का मूल आधार है। महात्मा गांधी श्रीमद् राजचन्द्र की छत्रछाया मे अहिंसा के सिद्धान्त को पल्लवित कर रहे थे। गांधी जी पर उनका प्रभाव था, इसलिए महावीर के सूत्रो को अपनाना उनके लिए स्वाभाविक था। विकेन्द्रित अर्थनीति, विकेन्द्रित उद्योग और स्वदेशी—ये तीनो महावीर की आचारसंहिता से आविर्भूत हुए हैं, प्रकट हुए हैं, ऐसा सहज ही माना जा सकता है।

दिग्व्रत का उद्देश्य

दिग्व्रत का एक उद्देश्य था— साम्राज्यवादी मनोवृत्ति पर अंकुश लगाना। आर्थिक साम्राज्य हो या भौगोलिक, एक विशेष सीमा से आगे नही जाऊंगा। यातायात की एक सीमा थी—पांच सौ किलोमीटर की सीमा से आगे नही जाऊंगा अथवा इस सीमा से आगे नही जाऊंगा। इसमें भी दिशा का प्रतिबंध था—ऊर्ध्व दिशा, तिर्यक् दिशा, अधोदिशा या अमुक दिशा मे इतनी सीमा से आगे नही जाऊंगा। इस दिशा से बाहर मैं अपनी वस्तु का विक्रय नही करूंगा। न आयात करूंगा और न निर्यात। प्रतिबध दिशा के साथ भी जुड़ा था। यह महत्त्वपूर्ण सूत्र साम्राज्यवादी मनोवृत्ति पर अंकुश लगाने मे कारगर हुआ।

संकल्प शान्ति के लिए

आज उद्योगो के अग्रणी राष्ट्र, जापान, जर्मनी, ब्रिटेन आदि यह निश्चय कर ले—हम अपनी वस्तुओ का निर्यात नही करेगे तो आर्थिक साम्राज्य का यह भीषण युद्ध थम जाएगा, शान्ति और अहिसा के प्रयत्न आवश्यक नही होगे। केवल शान्ति ही शान्ति होगी, युद्ध का प्रश्न ही समाप्त हो जाएगा। आज शस्त्र निर्माण करने वाले देश यह संकल्प कर ले कि हम अपने द्वारा निर्मित शस्त्र का निर्यात नही करेगे, अपने देश के बाहर नही भेजेगे तो फिर युद्ध के खतरे स्वयं समाप्त हो जाएंगे।

द्वैधनीति

आज की कूटनीति की यह बड़ी हैरत और आश्चर्य की बात है—एक ओर एक राष्ट्र संधि और समझौते की बात कर रहा है, दूसरी ओर वही राष्ट्र दूसरे पक्ष को शस्त्र की भी सप्लाई कर रहा है। शान्ति का मध्यस्थ भी वही है और शस्त्र की आपूर्ति कर शस्त्रो की होड़ को बढ़ावा देने वाला भी वही है। यह द्वैधनीति ही हिंसा और अशान्ति की जननी है।

गरीबी कौन मिटाएगा?

हर व्यक्ति की आकांक्षा होती है धनी बनने की। बड़े-बड़े कारखाने किसी को धनी नही बना सकते। ये लोहे की मशीने दुनिया से गरीबी को नही मिटा सकती। गरीबी मिटेगी स्वदेशी की भावना से। मनुष्य शान्ति के साथ जीवनयापन कर सके, बस इतनी सी ही तो आकांक्षा है। उसके लिए कम्प्यूटर, रोबोट की सहायता क्यो ली जाए?

लाओत्से कही जा रहे थे। जगल मे एक महिला रोती हुई मिली। लाओत्से रुक गए, पूछा—'बहिन! तुम रो क्यो रही हो?' महिला ने कहा—'महाराज! चीते ने मेरे लड़के को खा लिया। लड़के को ही नही, मेरे पति को भी वह खा गया।' लाओत्से ने कहा—'फिर इस जंगल मे क्यो रहती हो?' वह बोली—'इसलिए कि यहा कोई क्रूर शासक नही है, शान्ति है यहां। जंगली जानवर कभी-कभी हानि पहुंचा देते हैं, किन्तु क्रूर शासक के अत्याचार से तो बचे हुए हैं।'

पुनर्विचार करें

आदमी शान्ति चाहता है। वही भंग हो जाए तो जीवन मे सुख, समृद्धि और उल्लास की कल्पना भी नही की जा सकती। आज की अर्थशास्त्रीय अवधारणा साधन

भले ही उपलब्ध करा दे, वह अन्तःकरण की संतुष्टि और आन्तरिक आनन्द नहीं प्रदान कर सकती। आज आवश्यकता है—अहिंसा और शान्ति की बात सामने रखकर अर्थशास्त्रीय अवधारणाओ का पुनरावलोकन करे, उन पर पुनर्विचार करें। यह पुन-र्विचार ही अहिंसा और शांति के अर्थशास्त्र की आवश्यकता और उपयोगिता का बोध करा सकता है।

व्यक्तिगत स्वामित्व एवं उपभोग का सीमाकरण

हमारे सामने समाज के दो चित्र है, दो प्रारूप है—

- अनियन्त्रित इच्छा, अनियंत्रित आवश्यकता और अनियन्त्रित उपभोग वाला समाज।
- नियंत्रित इच्छा, आवश्यकता और उपभोग वाला समाज

इन दोनो की समीक्षा करे। जिस समाज की इच्छा अनियंत्रित है, आवश्यकता भी अनियन्त्रित है, उपभोग भी अनियन्त्रित है, वह समाज कैसा होगा? जिस समाज की इच्छा, आवश्यकता और उपभोग नियंत्रित है, वह समाज कैसा होगा?

अमित तृष्णा

हमारी दुनियां मे प्रत्येक पदार्थ सीमायुक्त है। इकोलोजी का पहला सूत्र है—लिमिटेशन। उपभोक्ता अधिक और पदार्थ कम। पदार्थ सीमित और इच्छा असीम, दोनो मे संगति कैसे हो? एक व्यक्ति की इच्छा इतनी अधिक होती है कि उसे पूरा नही किया जा सकता। राजस्थानी का एक मार्मिक पद्य है—

तन की तृष्णा अल्प है, तीन पाव या सेर।
मन की तृष्णा अमिट है, गले मेर के मेर॥

तन की तृष्णा तो तनिक-सी है। पाव-दो पाव या बहुत ज्यादा सेर भर खाया जा सकता है किन्तु मन की तृष्णा इतनी अधिक है कि मेरु पर्वत को भी निगल सकती है। अनियन्त्रित इच्छा मनुष्य को सुख देने के लिए नही, उसे सताने के लिए, दु:ख देने के लिए होती है। दु:ख का पहला बिन्दु है अमित तृष्णा। वह पूरी होती नही है, भीतर ही भीतर शल्य की तरह पीड़ा देती रहती है।

अनियंत्रित आवश्यकता

दूसरा तत्त्व है आवश्यकता। आवश्यकता भी अनियन्त्रित है। आवश्यकता

आगे चलकर कृत्रिम आवश्यकता का रूप ले लेती है और बढ़ती चली जाती है। इसे भी कभी पूरा नही किया जा सकता।

अनियन्त्रित उपभोग

तीसरा तत्त्व है उपभोग। वर्तमान की उपभोक्तावादी सस्कृति ने उपभोग को अनियन्त्रित कर दिया है। उपभोग आवश्यक है, किन्तु जब से उपभोक्तावाद आया है, तब से इसकी इतनी अधिक वृद्धि हुई है कि इससे स्वास्थ्य, मन और चेतना—तीनो प्रभावित हुए है।

नई हिंसा का उपक्रम

अनियंत्रित समाज का परिणाम क्या होगा? इच्छापूर्ति के लिए, आवश्यकता को बढ़ाने और उसे पूरा करने के लिए हिंसा अनिवार्य हो जाती है। नया उपभोक्तावाद एक प्रकार से नई हिंसा का उपक्रम है। हिंसा को इससे नया आयाम मिला है। प्रत्येक व्यक्ति के मन मे एक लालसा है कि इतना उपभोग तो आवश्यक है। वह पूरा नही होता है तो फिर उसे येन-केन प्रकारेण पूरा करने का प्रयत्न होता है। अपहरण, चोरी या हत्या करके भी उसे प्राप्त किया जाता है क्योकि वह लक्ष्य बन जाता है। आज के अर्थशास्त्र मे नैतिक विचार के लिए अवकाश कम है या बिल्कुल नही है। नैतिक, मानवीय और जीवन मूल्यो की इसमे कोई आवश्यकता नही मानी जाती। इस स्थिति मे जैसे-तैसे प्राप्त करना ही एक मात्र लक्ष्य बन जाता है।

दूसरा चित्र

समाज का दूसरा चित्र है—नियंत्रित इच्छा, आवश्यकता और उपभोग वाला समाज। जिसने इच्छा को सीमित किया है, वह कभी दु:खी नही बनेगा। वह इस सचाई को जानता है—इच्छा को कभी पूरा नही किया जा सकता। इसलिए वह पहले ही उस पर नियत्रण कर दु:ख का एक दरवाजा बन्द कर देता है।

जीवन की प्राथमिक आवश्यकता व्यक्ति को सताती नही है। वह सताती है, जो काल्पनिक और कृत्रिम रूप से पैदा की गई है। वह पदार्थ के प्रति एक आकर्षण या सम्मोहन पैदा करती है। एक दिन आकर्षण मुख्य हो जाता है, आवश्यकता गौण हो जाती है।

भोग की प्रकृति

आचार्य पूज्यपाद ने बहुत मार्मिक लिखा है—

प्रारंभे तापकान् प्राप्तौ अतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान्, कामं कः सेवते सुधीः ॥

काम की तीन स्थितियां बनती है—ताप, अतृप्ति और दुश्त्याज्यता। प्रारम्भ पदार्थ ताप देता है। भोगकाल मे उसका परिणाम होता हैं अतृप्ति। इस अतृप्ति का ही निर्दशन है वर्तमान के विकसित राष्ट्र। जो विकसित राष्ट्र कहलाते है, उन्होने बहुत अर्जित किया है और यह सोचकर अर्जित किया है कि मानसिक तृप्ति होगी। किन्तु आज वहां इतनी अतृप्ति बढ़ गई है कि मानसिक शान्ति के लिए एक भटकाव शुरू हो गया है। विकसित देशो के लोग इधर-उधर दौड़ लगा रहे है कि कही से मानसिक शान्ति मिले। अतृप्ति पुनः सेवन के लिए विवश करती है। फिर वह एक आदत बन जाती है। उसे छोड़ना मुश्किल हो जाता है। आदमी जानता है—आइसक्रीम खाना आवश्यक नही है किन्तु उसके प्रति आकर्षण होता है। व्यक्ति उसके लिए प्रयत्न करता है। गरीब आदमी भी पैसा जुटाता है। एक बार खाने पर तृप्ति नहीं मिलती, फिर दूसरी बार खाता है, तीसरी बार खाता है और अन्त मे छोड़ना कठिन हो जाता है। टान्सिल बढ़ जाए, दात खराब हो जाए या कुछ भी हो जाए, उसे छोड़ा नही जा सकता। यही बातें शराब की है। पहले-पहले शौकिया तौर पर श्राब का सेवन शुरू करता है। फिर यही अतृप्ति उसे इसका गुलाम बना देती है, एक स्नायविक आदत बन जाती है फिर उसका परिणाम भोगना ही पड़ता है।

मुश्किल है आदत छोड़ना

जोधपुर से सेना के एक अधिकारी का पत्र मिला। उसने लिखा था—आचार्यवर! सेना मे वड़े स्थान पर रहा। अब मै सेवामुक्त हू। शराब की आदत ने मेरे शरीर को जर्जर बना दिया है। छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी छोड़ नही पा रहा हू। आप कोई ऐसा मार्गदर्शन दे, जिससे मे इस लत से छुटकारा पा सकू।

सचमुच आदत छोड़ पाना बहुत मुश्किल होता है। जो सुधी है, विद्वान् है, चिन्तनशील है, वे प्रारम्भ मे ही अपनी आवश्यकता को सीमित कर देते है। सतुलित भोजन जीवन के लिए आवश्यक है, किन्तु असंतुलित भोजन या ज्यादा खाना आवश्यक नही है। प्रत्येक पदार्थ की आवश्यकता के संदर्भ मे यही नियम है। वर्तमान स्थिति यह है — नियंत्रण या सीमाकरण को महत्त्व कम दिया जा रहा है।

भूख और आवश्यकता

पहले भूख के लिए आवश्यकता वनती है, फिर आवश्यकता भूख वन जाती

है। भूख के लिए आवश्यकता को तो पूरा किया जा सकता है, किन्तु आवश्यकता की भूख को पूरा करने के लिए इस दुनिया मे न कोई साधन है और न कोई शक्ति है। न आज का अर्थशास्त्री इसे पूरा कर सकेगा, न कोई शासन या उसका वित्त मंत्रालय आवश्यकता की भूख को मिटा सकेगा। जिसके आवश्यकता की भूख जग जाती है, वह कभी दुःख से मुक्त नही हो सकता।

भूखा कौन?

नियंत्रित आवश्यकता वाला समाज कभी दुखी नही होता। न तो कोई इतना अमीर बनता है कि दौलत का पहाड़ खड़ा कर ले, न इतना बड़ा गड्ढा बनाता है, जो खाली पड़ा रहे। जिस समाज मे आवश्यकता, इच्छा और उपभोग का सीमाकरण है, वह समाज कभी भूखा नही रहता। वह भूखा रहता है, जिसमे इच्छा, आवश्यकता और उपभोग का अनियंत्रण होता है, ज्यादा ऊंचाई और नीचाई होती है।

मौलिक मनोवृत्ति

भगवान महावीर के समय के समाज की चर्चा करे। उन्होने जिस व्रती समाज का निर्माण किया था, उसमे स्वामित्व और उपभोग—दोनो का सीमाकरण था। स्वामित्व एक मौलिक मनोवृत्ति है। मनोविज्ञान के संदर्भ मे हम स्वामित्व की मीमांसा कर सकते है।मैक्डूगल आदि मानसशास्त्रियो ने मौलिक मनोवृत्तियो का एक वर्गी-करण किया। महावीर ने मनोवृत्ति का स्वरूप बताते हुए कहा—मनुष्य की एक ही मनोवृत्ति है और वह है अधिकार की भावना, परिग्रह या संग्रह की भावना।सब कुछ अधिकार की भावना से ही हो रहा है।दूसरी मनोवृत्तियां उसकी उपजीवी है।यह अधिकार की मनोवृत्ति मनुष्य मे ही नही, छोटे से छोटे जीव-जन्तुओ और पेड़-पौधो मे भी होती है।आचार्य मलयगिरि ने इस ममत्व और अभिकार की भावना को समझाने के लिए अमरवेल का उदाहरण दिया। अमरबेल प्रारम्भ मे किसी पेड़ का सहारा लेकर ऊपर चढ़ती है। फिर वह समूचे पेड़ पर अपना आधिपत्य जमा लेती है, उस पर छा जाती है और धीरे-धीरे उसे खा जाती है। अधिकार की भावना मधुमक्खी मे भी होती है, एक चीटी मे भी होती है और छोटे-बड़े सभी प्राणियो मे होती है। छोटे से छोटा प्राणी भी अपने लिए संग्रह करता है। अधिकार की उसमे मौलिक मनोवृत्ति होती है।

व्रती समाज का सूत्र

वर्तमान मे साम्यवाद और पूंजीवाद के संदर्भ मे स्वामित्व के अनेक रूप बन

गए है—निजी स्वामित्व, सार्वजनिक स्वामित्व और सामूहिक स्वामित्व ।

व्रती समाज का पहला सूत्र बना—स्वामित्व का सीमाकरण हो । व्यक्तिगत स्वामित्व सीमित होना चाहिए । व्रती समाज के दस प्रमुख लोग थे, सबके सब सम्पन्न थे । उन सबने व्यक्तिगत स्वामित्व का सीमाकरण किया । अर्थ प्राप्ति की लालसा असीम है, आदमी कहां तक जाएगा ? सीमा का विवेक तो होना ही चाहिए ।

अर्थ की अभीप्सा को हम तीन अवस्थाओ मे देखे—

- न्यूनतम
- अधिकतम
- असीम

न्यूनतम स्वामित्व

जीवन चलाने के लिए जितना अपेक्षित होता है, वह न्यूनतम आवश्यकता कही जा सकती है । यह न्यूनतम स्वामित्व की सीमा है । रोटी, कपड़ा, मकान—ये न्यूनतम स्वामित्व के अन्तर्गत आते है ।

अधिकतम स्वामित्व

अधिकतम को अच्छा नही कहा जा सकता । फिर भी उसकी एक सीमा है । खादी की एक धोती या साड़ी से भी काम चल सकता है । दो हजार, दस हजार और पचास हजार की साड़ी से भी काम नही चलता । समाचार पत्रो मे पढ़ा — करोड़ो रुपए की ड्रेस लोग रखते है । न्यूनतम खादी का एक कुर्ता, धोती और टोपी—जीवन इतने से चल जाता है । गांधी का उदाहरण सामने है । उन्होने तो मात्र एक धोती से ही काम चला लिया । आज के लोग इस बात को नही समझ पा रहे है कि इन सादे और सीमित वस्त्रो मे कितनी शान्ति और सहूलियत रहती है । कीमती वस्त्र पहनते ही सबसे पहले भय लगना शुरू हो जाता है । शरीर पर पोशाक सवार होते ही भय भी सवार हो जाता है । गन्दे हो जाने का भय, कट-फट जाने का भय, सिमट-सिकुड़ जाने का भय, चमक-दमक कम हो जाने का भय—ऐसे अनेक भय सताने लगते है ।

भय को पैदा करती है अतिरिक्तता

एक आदमी को भय बहुत लगता था । वह किसी मान्त्रिक के पास गया, अपनी समस्या बताई । मांत्रिक ने एक तावीज बनाकर उसे देते हुए कहा—इसे पहन लो, फिर तुम्हे किसी तरह का भय नही लगेगा । कुछ दिन बाद वह फिर मान्त्रिक के पास आया ।

मांत्रिक ने पूछा—क्यो, अब तो ठीक हो ? भय तो नही लगता ? उसने कहा—और किसी बात का भय नही लगता किन्तु एक डर बना रहता है कि ताबीज कही खो न जाए।

जब कभी व्यक्ति अतिरिक्त उपभोग करता है, सबसे पहला भय इस बात का होता है कि कही वह खराब न हो जाए। अतिरिक्त आभूषण पहनते ही यह भय सवार हो जाता है कि कही भूल से गिर न जाए, कोई चुरा न ले, कोई छीन न ले। प्रत्येक अतिरिक्तता के साथ भय बराबर बना रहेगा। अधिकतम का सीमाकरण इस अतिरिक्तता के भय को स्वल्प कर देता है।

असीम लालसा

असीम मे कही कोई सीमा नही होती। लाख, करोड़, अरब, खरब के आगे भी पाने की लालसा का कही अन्त नही होता और यह असीम लालसा मनुष्य के मन को अशांत बना देती है, तनाव से भर देती है।

सीमाकरण का सूत्र

महावीर द्वारा निर्मित समाज सम्पन्न समाज था। वह गरीब और दरिद्र समाज नही था पर सीमाकरण के विवेक से समृद्ध था। उस समय कौटुम्बिक व्यवस्था में एक परिवार मे सैकड़ो-सैकड़ो लोग होते थे। आनन्द का परिवार भी एक ऐसा ही परिवार था। उसने सीमाकरण किया—चार करोड़ स्वर्ण मुद्राएं ब्याज मे लगी रहे, चार करोड़ स्वर्ण मुद्राएं निधान (भूमिगत) मे रहे। इससे अधिक रखने का उसे त्याग था। इतनी भूमि, इतना भवन, इतना व्रज (गौशाला) रखूंगा। इससे अधिक कुछ नही रखूगा। संग्रह की एक निश्चित सीमा बन गई।

नियंत्रण के दो सूत्र

महावीर ने कहा—अर्जन या संग्रह का कोई नियम नही बनाया जा सकता, अधिकतम का कोई नियम नही बनाया जा सकता। हो सकता है—एक व्यक्ति उससे अधिक सीमा कर ले। महावीर ने अधिकतम को दो ओर से नियंत्रित कर दिया।

पहला नियंत्रण था—अर्जन मे साधनशुद्धि का विचार।

दूसरा नियंत्रण था—व्यक्तिगत उपभोग का सीमाकरण।

महावीर ने उपभोग की एक सूची बना दी। ऐसी सूची, जो आज तक किसी अर्थशास्त्री ने नही बनाई। उपासकदशा सूत्र मे दस सूत्र हैं, जिसमे उस समय के दस

प्रमुख लोगो का वर्णन है। उसमे दी गई उपभोग सूची का अगर आज अनुपालन हो तो गरीबी की समस्या का अपने आप समाधान हो जाएगा। उस सूची के कुछ सूत्र ये है—

- ❑ वस्त्र परिमाण
- ❑ दंतवन परिमाण
- ❑ द्रव्य परिमाण
- ❑ जल परिमाण
- ❑ वाहन परिमाण

आदि आदि

वस्त्र की परिमाण

एक व्रती यह संकल्प करता है—इतने से ज्यादा वस्त्र मै अपने पास नही रखूगा एक धोती और एक उत्तरीय—इससे ज्यादा वस्त्र का एक साथ उपभोग नही करूगा शरीर के प्रक्षालन हेतु मात्र एक तौलिए से ज्यादा नही रखूंगा। यह सीमाकरण है उ समय के करोड़ो स्वर्ण मुद्राओ के स्वामी का।

जल का परिमाण

वह जल का भी परिमाण करता है— इतने से ज्यादा पानी का उपयोग मै न करूंगा। पर्यावरण की समस्या उस समय नही थी, न ही उसके लिए कोई उपक्रम थ किन्तु इस वात का भान था कि पर्यावरण की समस्या आगे चल कर कभी भी पैदा ह सकती है। आज तो यह समस्या विकट रूप धारण कर चुकी है और भविष्य मे इसके विकटतम रूप धारण करने की सभावना व्यक्त की जा रही है। इससे निपटने क कोई भी उपाय विशेष कारगर नही हो रहा है। पानी का जितना दुरुपयोग आज ह रहा है, शायद पहले कभी नही हुआ होगा। भविष्य मे यह जल सकट कितना त्रास सिद्ध होगा, कहा नही जा सकता। एक व्रती व्यक्ति जल का सीमाकरण करत है—इतने घड़ो से ज्यादा जल का उपयोग स्नान हेतु नही करूंगा।

दंतवन विधि परिमाण

दतांन के भी सीमित उपयोग की वात कही गई। आज स्थिति यह है—दतां के लिए छोटी-सी टहनी की जरूरत है तो नीम के पेड़ की पूरी डाल ही काट ल जाएगी।

आश्रम मे ठहरी एक विदेशी महिला से गाधीजी ने कहा—नीम की लकड़

लाओ, दतौन करना है। महिला गई और पूरी डाल तोडकर ले आई। गांधी जी ने उसे इतना कडा उपालम्भ दिया, जैसे उसने लाख रुपये खो दिए हो। वहां बैठे लोग बोले—बापू ! इतनी छोटी-सी बात के लिए आपने इस महिला को इतना लताड़ दिया। इतने सारे नीम के पेड़ यहा खड़े है, दतौन समाप्त तो नही हो गया ? गाधीजी ने कहा—'अकेला गाधी ही नही है, सारी दुनिया है दतौन करने वाली। इस तरह सब करने लगेगे तो नीम के पेड का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।'

महावीर की सूची का एक व्रत है—दंतवण विहिपरिमाण – दंतवन की विधि का परिमाण । एक व्रत है—पुक्खविहिपरिमाणं—पुष्प की विधि का परिमाण।

एक व्रत है फल विहिपरिमाण – फल की विधि का परिमाण।

एक व्रत —द्रव्य का परिमाण, द्रव्य की सीमा करना।

आर्थिक विषमता का समाधान सूत्र

इन सब वस्तुओ का सीमाकरण है महावीर की सूची मे। आज का सम्पन्न समाज यदि उस काल के व्रती समाज का इन सारी वस्तुओ के उपभोग मे अनुकरण करे तो शायद अपने आप आर्थिक विषमता की समस्या हल हो जाएगी। अकेले आनन्द श्रावक ने ही इसका पालन नही किया, पांच लाख व्यक्तियो ने इस सूची का जीवन भर के लिए अनुकरण किया था। अगर आज पांच लाख लोगो का वैसा ही एक कम्यून बन जाए तो सारी दुनिया के लिए एक अनुकरणीय बात होगी। पर्यावरण की समस्या, गरीवी की समस्या, उपभोग की समस्या और उत्पादन की समस्या को एक सही और सटीक समाधान मिल जाएगा।

चौदह नियम

आजीवन अनुकरणीय सूची के अतिरिक्त एक सूची वर्तमान की, आज की बनानी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे—आज मे किस वस्तु का उपभोग करू। प्रतिदिन की सूची बने । जैन साहित्य मे चौदह नियम विश्रुत है। उसका एक नियम है—मुझे आज पूरे दिन मे पांच द्रव्य या इतने द्रव्य से अधिक नही खाना है। इस तरह का एक सीमाकरण होना चाहिए। यह प्रतिदिन के भोजन की सीमा वहुत आवश्यक है। प्राकृतिक चिकित्सक कहते है—अगर स्वस्थ रहना है तो भोजन मे एक से अधिक अनाज मत खाओ। गेहूं खाना है तो गेहूं खाओ। चावल खाना है तो चावल खाओ, वाजरी खाना है तो वाजरी खाओ। दो अनाज मत खाओ। एक अनाज खाओ। इससे पाचन ठीक होगा। यह संयम की दृष्टि से नही कहा गया है, पाचन और स्वास्थ्य की

दृष्टि से कहा गया है।

डॉ० गांगुली का कथन

ज्यादा चीजे भी एक साथ मत खाओ। कलकता के एक प्रसिद्ध चिकित्सक है डाक्टर गांगुली। वे गुरुदेव के दर्शन करने आए। बातचीत के दौरान डा० गांगुली ने कहा—यदि स्वस्थ रहना है तो रोटी, थोड़ी-सी दाल, एक सब्जी, एक फल—इतना ही भोजन होना चाहिए। इसके अतिरिक्त और किसी चीज की आवश्यकता नही है। पहले राजा के भोजन को राजशाही भोजन कहा जाता था। बीमारियां भी उस समय राजशाही थी। टी० वी० की बीमारी का नाम ही राजयक्ष्मा था। यह बीमारी बड़े लोगों को होती थी, गरीबो के पास यह बीमारी फटकती ही नही थी। आज तो हर आदमी राजशाही हो गया, राजशाही बीमारियां भी आम हो गई।

अनेक हैं सीमाकरण के सूत्र

वाहन का भी सीमाकरण करे—आज मै इतने से अधिक वाहन का प्रयोग नही करूगा। इतनी बार से अधिक वाहन का प्रयोग नही करूंगा। पदत्राण का भी सीमाकरण करे — मै इतने से ज्यादा जूते-चप्पल का प्रयोग नही करूंगा।

यात्रा का सीमाकरण करे—आज मैं सौ किलोमीटर की सीमा से बाहर नही जाऊंगा।यदि यह विवेक जग जाए तो आज जिस तरह से यात्रा मे ऊर्जा और ईधन का अपव्यय हो रहा है, उस पर काफी अंकुश लग जाए। व्यक्ति घर से दस कदम दूर किसी काम से जाता है और पूरे बाजार का चक्कर लगा आता है। निरुद्देश्य और निष्प्रयोजन यात्रा करता रहता है। आधुनिक साधनो ने तो दुनिया को इतना छोटा बना दिया है कि प्रात: प्रस्थान कर आदमी देश के किसी भी कोने मे जाकर शाम को पुन घर आ सकता है।

उपभोक्तावाद का परिणाम

समाज के ये दो चित्र स्पष्ट है—अनियन्त्रित उपभोग वाला समाज और नियंत्रित उपभोग वाला समाज। हिंसा और अशान्ति तथा अहिंसा और शान्ति—इन दोनों के सन्दर्भ मे चिन्तन करे तो स्पष्ट होगा—अनियन्त्रण ने हिंसा, स्पर्धा, ईर्ष्या और आतंक को जन्म दिया है, अशान्ति और शोषण को जन्म दिया है। जहां उपभोग अधिक है, उपभोक्तावादी धारणा है, वहां शोषण अनिवार्य है। नियन्त्रित उपभोग वाले समाज ने न तो किसी का शोषण किया, न किसी को सताया, वह अपनी सीमा मे रहा, उसने सीमा का अतिक्रमण नही किया।

पहले : बाद में

फ्रांसीसी विचारक ज्यां बोद्रियो ने आधुनिक उपभोक्तावाद की मीमांसा करते हुए लिखा — 'पहले वस्तु आती है तो वह सुख देने वाली लगती है। अन्त मे वह दुःख देकर चली जाती है। पहले वह भली लगती है, किन्तु अन्त मे बुरी साबित होती है।'

भारतीय दर्शन का चिन्तन रहा—एक वस्तु आपातभद्र होती है और परिणाम-विरस। भोगवादी प्रकृति का विश्लेषण करते हुए कहा गया—

इक्षुवद् विरसा : प्रान्ते, सेविताः स्युः परे रसाः।

इक्षु का सेवन बड़ी मिठास देता है किन्तु अन्त मे उसके छिलके मे कोई रस नही रह जाता, वह नीरस हो जाता है।

सुख कहां है ?

यही प्रकृति उपभोक्तावाद की है। बाजार मे सजी हुई तड़क-भड़क वाली वस्तुएं, जो उपभोक्ताओ को ललचा रही है, अपने जाल मे फसा रही है, वे एक दिन इक्षु की तरह विरस हो जाएगी। एक महिला ने आज पाच सौ रुपए की आकर्षक साड़ी खरीदी। पडोस मे ही दूसरी महिला ने हजार रुपए की उससे भी अधिक अच्छी साड़ी खरीद ली। पांच सौ रुपए की साड़ी ने जो सुख दिया, वह विलीन हो गया। एक व्यक्ति ने हजार रुपए मे घड़ी खरीदी। दो दिन बाद उसके मित्र ने दो हजार की घडी खरीद कर बाध ली। जो व्यक्ति हजार रुपए की घड़ी खरीद कर सुख और सतोष का अनुभव कर रहा था, वही तत्काल दु.खी बन जाएगा। टाइम दोनो घडिया ठीक बता रही है, किन्तु दो हजार रुपए वाली घड़ी हजार रुपए की घड़ी वाले व्यक्ति को दु.खी बना देती है।

प्रश्न उभरता है—आज का उपभोगवादी दृष्टिकोण मनुष्य को सुखी बना रहा है या दु.खी बना रहा है ? इस सचाई को समझ ले तो सीमाकरण की बात और उसका औचित्य हमारी समझ मे आ जाएगा।

मोहपाश से छूटें

महावीर ने अपने व्रती समाज के लिए व्यक्तिगत स्वामित्व का सीमाकरण और उपभोग का सीमाकरण—ये दोनो दर्शन दिए। इन्ही दोनों के आधार पर समाज का

निर्माण किया। फलतः वह समाज सुखी, स्वस्थ और शान्त जीवन जीता था। आज अपेक्षा है—हमारे वर्तमान के अर्थशास्त्री और वर्तमान के उपभोक्तावादी लोग उस सत्य का साक्षात् करे, केवल सम्मोहन मे न जाएं। आज का उपभोक्तावादी दृष्टिकोण एक प्रकार का सम्मोहन बन गया है, हिस्टीरिया की बीमारी बन गया है। सम्मोहन करने वाला जैसा नचाएगा, उपभोक्ता वैसा ही नाचेगा। आज का उपभोक्ता बाजार और विज्ञापनो के हाथ की कठपुतली है। इस मोहपाश से छूटे तो समाज अधिक सुखी और शान्तिपूर्ण जीवन जीने वाला समाज बन सकता है।

पर्यावरण और अर्थशास्त्र

आधुनिक अर्थशास्त्र समृद्धि का अर्थशास्त्र है। योरोपीय आर्थिक समुदाय के प्रतिनिधि डा॰ मैल्सहोल्ड ने कहा—'पीछे लौटने का प्रश्न ही नही है, हमे और आगे बढ़ना है। धनी बने है, और अधिक धनी बनना है। समृद्धि प्राप्त की है, अभी और अधिक समृद्धिशाली बनना है। पर्यावरण की समस्या है, उसका समाधान हम खोजेगे। ऊर्जा की समस्या है, उसका भी समाधान हम खोजेगे। अगर सामान्य रियेक्टर से काम नही चलेगा तो फास्ट ब्रीडर रियेक्टर का प्रयोग करेगे। कोई भी समस्या ऐसी नही है, जिसका समाधान न हो। किन्तु हमे आगे बढ़ना है, और अधिक धनी बनना है।'

धनी बनने का शास्त्र

समृद्धि का यह अर्थशास्त्र अधिक से अधिक धनी बनने का अर्थशास्त्र है। यह अवधारणा इसलिए बनी है कि मनुष्य को केवल भौतिक मान लिया गया। कहा जा रहा है—मनुष्य केवल प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पैदा हुआ है। यदि उसकी आवश्यकताएं पूरी हो जाती है, उसे समृद्धि मिल जाती है तो फिर क्या शेष रहता है? उसके आगे जो कुछ करने को है, वह अर्थशास्त्र का विषय नही बनता। शायद अर्थशास्त्र को जीवन के अन्य पक्षो से कट कर दिया गया। वस्तुतः समाजशास्त्र हो या मानसशास्त्र, अर्थशास्त्र हो या राजनीतिशास्त्र—सब परस्पर जुड़े हुए है। केवल एक पहलू पर विचार करे और शेष सारे पहलुओ की उपेक्षा कर दे तो कभी सही समाधान नही मिल पाएगा।

स्वार्थ सापेक्ष सामाजिक

इसमें कोई सन्देह नही है कि आधुनिक अर्थशास्त्र का मुख्य लक्ष्य रहा हैं—सबको रोटी मिले, कपड़ा मिले, मकान मिले, कोई भूखा न रहे। इसके लिए पूंजीवाद ने एक प्रेरक तत्त्व खोजा— मनुष्य स्वार्थी है। स्वार्थ की प्रेरणा मिलेगी तो वह आगे बढ़ेगा। साम्यवाद ने प्रेरक तत्त्व यह खोजा—मनुष्य सामाजिक प्राणी हैं, समाज उसके लिए एक प्रेरणा हैं। ये दोनो एकांगी दृष्टिकोण हैं। मनुष्य स्वार्थी है, यह सच है, किन्तु

वह केवल स्वार्थी नही है, सामाजिक भी है। मनुष्य समाजनिष्ठ है, यह भी सच है, किन्तु वह केवल समाजनिष्ठ नही है, स्वार्थी भी है। स्वार्थी और समाजनिष्ठ—दोनों का समन्वय होता तो नए अर्थशास्त्र का निर्माण होता। उसमे न केवल स्वार्थ की प्रेरणा होती, न केवल सामाजिक प्रेरणा होती, किन्तु दोनो का योग होता और वह योग वर्तमान समस्याओ का समाधान बनता।

सुविधा, शान्ति और सुख

यह एक तथ्य है—वर्तमान अर्थशास्त्रीय अवधारणा ने मनुष्य को अर्थ-सम्पन्न तो बनाया है, किन्तु सुखी कम बनाया है। सुविधा, शान्ति और सुख—यह त्रिपुटी है। सुविधा मिले, आवश्यकताओ की पूर्ति हो, मानसिक शान्ति और सुख भी मिले, ये तीनों हो तो पूरी बात होती है। इन तीनो की उपलब्धि कराने वाला अर्थशास्त्र ही आज अपेक्षित है। ऐसा अर्थशास्त्र, जो दूसरे के हित को विखण्डित न करे। जिससे अनेक सुविधाएं मिल जाए, आवश्यकता की पूर्ति खूब हो जाए, किन्तु मन की शान्ति भग्न हो जाए, वह अर्थशास्त्र पर्याप्त नही होता। सुख भी मिले, शान्ति भी मिले, सुविधा भी मिले तो एक परिपूर्ण बात बनती है और यह अनेकान्त दृष्टिकोण से ही संभव है।

स्वर्ग : नरक

आधुनिक अर्थशास्त्र ने सम्पन्नता का सिद्धान्त रखा और सम्पन्नता की दौड़ शुरु हो गई। वर्तमान अर्थशास्त्र की जो संकल्पजा सृष्टि है, उसकी कुछ संताने हैं—उद्योग, यंत्रीकरण और शहरीकरण। सृष्टि का एक पुत्र है उद्योग। जितना उद्योग बढ़ेगा, उतनी सम्पन्नता बढ़ेगी। फलस्वरूप औद्योगिक दौड़ शुरू हो गई, अनेक राष्ट्र औद्योगिक राष्ट्र बन गए, अमीर बन गए, बहुत सम्पन्नता अर्जित कर ली। उद्योग के साथ यंत्रीकरण बढ़ा और यंत्रीकरण के साथ शहरीकरण बढ़ा। उद्योग के साथ आजीविका जुड़ी और गांव के लोग शहर में जाने लगे। शहर फैलते गए, मल्टीस्टोरीज बिल्डिगे बनती गई, साथ ही परिपार्श्व मे झुग्गी-झोपड़यो की लम्बी कतारे भी। स्वर्ग और नरक—दोनो एक साथ हैं। इस धरती पर स्वर्ग देखना है तो स्वर्ग का दृश्य तैयार है और नरक को देखना है तो झुग्गी-झोपड़ियो के रूप मे वह भी तैयार है।

उद्योग से जुड़ी समस्याएं

उद्योग ने कुछ समस्याएं पैदा की, मनुष्य का ध्यान पर्यावरण की ओर गया—पर्यावरण दूषित हो रहा है, भूमि, जल और वायु—सब दूषित हो रहे है। समस्या यहां

तक बढ़ गई है कि उस समस्या के समाधान के लिए बड़े और औद्योगिक राष्ट्रो का बोझ विकासशील राष्ट्रो पर पड़ रहा है। इस समस्या पर विचार करने के लिए रियो पृथ्वी शिखर सम्मेलन की आयोजना की गई। उस सम्मेलन ने प्रदूषण की समस्या की गंभीरता को रखाकित किया किन्तु समस्या आज भी विकट बनी हुई है।

भूमि का उत्खनन

भूमि का अतिरिक्त दोहन और उत्खनन हुआ है। मनुष्य अपनी सुविधा के लिए, आवश्यकता की पूर्ति के भूमि का उत्खनन करता रहा है। यह कोई नई बात नही है। किन्तु इस बीसवी शताब्दी मे भूमि का जितना उत्खनन हुआ है, उतना अतीत मे कभी नही हुआ। जितना दोहन पदार्थो का हुआ है, उतना अतीत मे कभी नही हुआ। बहुत वार विकल्प आता है—वर्तमान पीढ़ी भूमि का इतना दोहन कर लेगी, इतना उत्खनन कर लेगी तो शताब्दी के बाद आने वाली पीढ़ी यही कहेगी—हमारे पूर्वज बिल्कुल नासमझ थे। उन्होने हमे दरिद्र बनाकर छोड़ दिया। स्वयं सुविधा भोगते रहे और हमे विपन्नता के वातावरण मे जीने के लिए विवश कर दिया। ऊर्जा के लिए पेट्रोल का, गैस का, धातुओ या कोयले का, इतना अधिक उत्खनन हो रहा है कि पता नही आने वाले सौ दो-सौ वर्षो मे भूमि का क्या हो जाए? वैज्ञानिक यह बता रहे है—भूकम्प जैसी समस्याएं बढ़ जाएंगी, और भी दूसरी समस्याएं बढ़ जाएंगी। यद्यपि भूकंप का सही कारण अभी ज्ञात नही हो सका है, फिर भी अनुमान किया जा रहा है—यह समस्या अत्यधिक उत्खनन के कारण पैदा हुई है।

प्रदूषित जल

हमारे पर्यावरण का एक महत्त्वपूर्ण कारक है जल। वह भी दूषित हो रहा है। पीने के लायक पानी भी कम होता जा रहा है। उद्योगों के विषैले रासायनिक पदार्थ, शहरो की शीवर लाइने सीधे नदियो से जोड़ दी गई। समुद्री रास्ते से जा रहे जहाजो से करोड़ो टन तेल रिसता है। वह तेल का प्रवाह समुद्र के जल को दूषित बनाता है, फलस्वरूप समुद्री जन्तुओ का संहार होता है।

वायु का प्रदूषण

वायु भी इतनी दूषित हो गई है कि सांस के माध्यम से हमारे शरीर के भीतर जहर पहुंचा रही है। जो लोग दिल्ली के भीतरी भाग मे रहते है, आई॰ टी॰ ओ॰ के आसपास रहते हैं, वे बताते है—यह प्रदूषण आख मे जलन, नाक मे जलन और पूरे शरीर मे जलन सी पैदा कर देता है। दिल्ली मे लाखो-लाखो वाहन दिन-रात दौड़ रहे

है। उनके साइलेसर से निकला घातक धुआं, जिसमे शीशे की मात्रा अन्य धातुओ की मात्रा से बहुत ज्यादा है, फेफड़ो मे पहुंचकर आदमी के सम्पूर्ण शरीर को हानि पहुचा रही है।

जीवन के प्रमुख तीन साधन है—मिट्टी, जल और वायु। ये तीनो प्रदूषित हो रहे है। इस प्रदूषण की ओर ध्यान गया है, इससे भी आगे ध्यान गया है कि ओजोन की छतरी मे छेद हो रहा है। इससे तापमान बढ़ेगा, समुद्र का जलस्तर भी ˉढ़ेगा, पृथ्वी पर इतना खतरा बढ़ जाएगा कि इस पर रहना मुश्किल हो जाएगा।

छठा काल खंड

जैन आगमो मे छठे आरे का वर्णन मिलता है। यह एक कालखण्ड है। अ.भी पाचवां कालखण्ड चल रहा है। छठां आरा प्रलयकाल होगा। उस समय ओजोन की छतरी छिद्र युक्त ही नही, पूरी ध्वस्त हो जाएगी और पराबैगनी किरणे सीधे पृथ्वी पर मार करेगी। पृथ्वी इतनी गरम हो जाएगी कि इस पर किसी प्राणी का जीवित बचना संभव नही होगा। प्राणी ही नंही, वनस्पति तक जल कर राख हो जाएगी। हिमालय की गुफा मे रहने वाले कुछ लोग शायद शेष रह जाएं पानी मे कुछ मछलियां। दिन मे आग बरसेगी और रात का तापमान शून्य से भी काफी नीचे हो जाएगा। छठे कालखण्ड का जो लोमहर्षक वर्णन मिलता है और वैज्ञानिको द्वारा ओजोन छतरी के टूटने के जो दुष्परिणाम बताए जा रहे है, उनमे काफी समानताएं है।

भुला दिया दूसरा पक्ष

पर्यावरंण के इस प्रदूषण मे उद्योगो की मुख्य भूमिका है। उद्योगो मे प्रयुक्त तेल और गैस ओजोन छतरी को विखण्डित कर रही है। इस गंभीर समस्या की ओर आज के वैज्ञानिको का ध्यान गया है। मैन्सहोल्ड की भविष्यवाणी है—हम समाधान खोज लेगे। किन्तु अभी तो समस्या जटिल ही हो रही है। एक समस्या का समाधान खोजते है और दूसरी नई समस्या पैदा हो जाती है। हम मान भी ले कि पर्यावरण की समस्या का समाधान कर लेगे। अभी कालखण्ड वचा हुआ है, शायद पृथ्वी भी उतनी गरम न हो। पूंजीवादी विचारको ने इस ऊर्जा और पर्यावरण सम्वन्धी समस्या का समाधान खोजने की वात कह दी, किन्तु उन्होने मनुष्य के दूसरे पक्ष को भुला दिया। वह पक्ष है स्वास्थ्य का पक्ष। मानसिक स्वास्थ्य, भावात्मक स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य भी समस्या का एक पक्ष है। वढ़ती हुई हिंसा की समस्या भी एक पक्ष है। इन पर पूरा विचार नहीं किया गया। अगर इन पर एक साथ संतुलित रूप से विचार किया

जाता तो केवल आगे बढ़ना है, पीछे नही लौटना है, सम्पन्न और अधिक सम्पन्न बनना है—इस प्रकार के उद्गार सामने नही आते ।

बढ़ता मानसिक विक्षेप

आज शारीरिक स्वास्थ्य की समस्या भी विकट है । जिस प्रकार प्रदूषण बढ़ा है और जिस प्रकार रासायनिक द्रव्यो का छिड़काव हो रहा है, उससे मनुष्यो का शारीरिक स्वास्थ्य भी काफी प्रभावित हुआ है । शारीरिक स्वास्थ्य से भी ज्यादा मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित हुआ है । यदि हम पाच दशक, छह दशक पहले की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करे तो हमारे सामने यह निष्कर्ष आएगा—आज मानसिक विक्षेप ज्यादा बढ़ा है, मानसिक रोगो के अस्पताल ज्यादा खुले है । आत्महत्याओ का अनुपात बढ़ा है, तलाक की दरे बढ़ी है, सामाजिक अपराध बढ़े है । अपराध की रोकथाम के लिए भारी भरकम बजट विकसित राष्ट्रो को निर्धारित करना पड़ रहा है । विकसित राष्ट्रो का सिर्फ अपराध नियंत्रण पर जितना बड़ा बजट है, उतना छोटे, अविकसित राष्ट्र का पूरा बजट भी नही है । संहारक अस्त्र-शस्त्रो की समस्या भी बढ़ी है ।

दूसरी दिशा में

इन सारी समस्याओ के संदर्भ मे हम आधुनिक अर्थशास्त्र की अवधारणाओ को पढे, तो लगेगा—रोटी, पानी आदि आवश्यक साधनो को जुटाने के लिए जो संकल्प लिया था, वह पूरा नही हो रहा है, दूसरी दिशा मे जा रहा है । यदि सारा धन मनुष्य की भूख मिटाने मे लगता तो आज कोई भूखा न रहता । वह स्वप्न पूर्ण नही हुआ, क्योकि उसके साथ मानसिक समस्याओ का अध्ययन नही किया गया । एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करना चाहता है, अपना अधिकार बनाए रखना चाहता है । उसके लिए किस तरह गुप्तचरी का जाल बिछाया जाता है, किस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र के सामने समस्याएं पैदा की जाती है और किस प्रकार दूसरे पर आक्रमण किया जाता है, विकसित राष्ट्र गरीब या अविकसित , विकासशील राष्ट्र पर किस तरह आर्थिक प्रतिबन्ध लगाते है, ये सारी मानसिक समस्याए है । अगर भौतिक समस्याओ के समाधान के साथ-साथ मानसिक समस्याओ को भी देखा जाता , इन पर ध्यान दिया जाता—भौतिक सपंदा के साथ-साथ मानसिक समस्याएं कितनी बढ़ेगी तो शायद अर्थशास्त्र का स्वरूप बदलता, उसकी अवधारणाएं भी बदलती ।

जटिल है भावात्मक समस्या

सबसे ज्यादा जटिल है भावात्मक समस्या । आर्थिक सम्पदा बढ़ाने के लिए

है। उनके साइलेसर से निकला घातक धुआ, जिसमे शीशे की मात्रा अन्य धातुओ की मात्रा से बहुत ज्यादा है, फेफड़ो मे पहुचकर आदमी के सम्पूर्ण शरीर को हानि पहुंचा रही है।

जीवन के प्रमुख तीन साधन है—मिट्टी, जल और वायु। ये तीनो प्रदूषित हो रहे है। इस प्रदूषण की ओर ध्यान गया है, इससे भी आगे ध्यान गया है कि ओजोन की छतरी मे छेद हो रहा है। इससे तापमान बढ़ेगा, समुद्र का जलस्तर भी ¯ढ़ेगा, पृथ्वी पर इतना खतरा बढ़ जाएगा कि इस पर रहना मुश्किल हो जाएगा।

छठा काल खंड

जैन आगमो मे छठे आरे का वर्णन मिलता है। यह एक कालखण्ड है। अभी पांचवा कालखण्ड चल रहा है। छठां आरा प्रलयकाल होगा। उस समय ओजोन की छतरी छिद्र युक्त ही नही, पूरी ध्वस्त हो जाएगी और पराबैगनी किरणे सीधे पृथ्वी पर मार करेगी। पृथ्वी इतनी गरम हो जाएगी कि इस पर किसी प्राणी का जीवित बचना संभव नही होगा। प्राणी ही नंही, वनस्पति तक जल कर राख हो जाएगी। हिमालय की गुफा मे रहने वाले कुछ लोग शायद शेष रह जाए पानी मे कुछ मछलिया। दिन मे आग बरसेगी और रात का तापमान शून्य से भी काफी नीचे हो जाएगा। छठे कालखण्ड का जो लोमहर्षक वर्णन मिलता है और वैज्ञानिको द्वारा ओजोन छतरी के टूटने के जो दुष्परिणाम बताए जा रहे है, उनमे काफी समानताएं है।

भुला दिया दूसरा पक्ष

पर्यावरण के इस प्रदूषण मे उद्योगो की मुख्य भूमिका है। उद्योगो मे प्रयुक्त तेल और गैस ओजोन छतरी को विखण्डित कर रही है। इस गंभीर समस्या की ओर आज के वैज्ञानिको का ध्यान गया है। मैन्सहोल्ड की भविष्यवाणी है—हम समाधान खोज लेगे। किन्तु अभी तो समस्या जटिल ही हो रही है। एक समस्या का समाधान खोजते है और दूसरी नई समस्या पैदा हो जाती है। हम मान भी ले कि पर्यावरण की समस्या का समाधान कर लेगे। अभी कालखण्ड बचा हुआ है, शायद पृथ्वी भी उतनी गरम न हो। पूंजीवादी विचारको ने इस ऊर्जा और पर्यावरण सम्बन्धी समस्या का समाधान खोजने की वात कह दी, किन्तु उन्होने मनुष्य के दूसरे पक्ष को भुला दिया। वह पक्ष है स्वास्थ्य का पक्ष। मानसिक स्वास्थ्य, भावात्मक स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य भी समस्या का एक पक्ष है। वढ़ती हुई हिंसा की समस्या भी एक पक्ष है। इन पर पूरा विचार नही किया गया। अगर इन पर एक साथ संतुलित रूप से विचार किया

जाता तो केवल आगे बढ़ना है, पीछे नही लौटना है, सम्पन्न और अधिक सम्पन्न बनना है—इस प्रकार के उद्‌गार सामने नही आते।

बढ़ता मानसिक विक्षेप

आज शारीरिक स्वास्थ्य की समस्या भी विकट है। जिस प्रकार प्रदूषण बढ़ा है और जिस प्रकार रासायनिक द्रव्यो का छिड़काव हो रहा है, उससे मनुष्यो का शारीरिक स्वास्थ्य भी काफी प्रभावित हुआ है। शारीरिक स्वास्थ्य से भी ज्यादा मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित हुआ है। यदि हम पाच दशक, छह दशक पहले की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करे तो हमारे सामने यह निष्कर्ष आएगा—आज मानसिक विक्षेप ज्यादा बढ़ा है, मानसिक रोगो के अस्पताल ज्यादा खुले है। आत्महत्याओ का अनुपात बढ़ा है, तलाक की दरे बढ़ी है, सामाजिक अपराध बढ़े है। अपराध की रोकथाम के लिए भारी भरकम बजट विकसित राष्ट्रो को निर्धारित करना पड़ रहा है। विकसित राष्ट्रो का सिर्फ अपराध नियत्रण पर जितना बड़ा बजट है, उतना छोटे, अविकसित राष्ट्र का पूरा बजट भी नही है। सहारक अस्त्र-शस्त्रो की समस्या भी बढ़ी है।

दूसरी दिशा में

इन सारी समस्याओ के सदर्भ मे हम आधुनिक अर्थशास्त्र की अवधारणाओ को पढ़े, तो लगेगा—रोटी, पानी आदि आवश्यक साधनो को जुटाने के लिए जो संकल्प लिया था, वह पूरा नही हो रहा है, दूसरी दिशा मे जा रहा है। यदि सारा धन मनुष्य की भूख मिटाने मे लगता तो आज कोई भूखा न रहता। वह स्वप्न पूर्ण नही हुआ, क्योकि उसके साथ मानसिक समस्याओ का अध्ययन नही किया गया। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करना चाहता है, अपना अधिकार बनाए रखना चाहता है। उसके लिए किस तरह गुप्तचरी का जाल बिछाया जाता है, किस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र के सामने समस्याएं पैदा की जाती है और किस प्रकार दूसरे पर आक्रमण किया जाता है, विकसित राष्ट्र गरीब या अविकसित , विकासशील राष्ट्र पर किस तरह आर्थिक प्रतिबन्ध लगाते है, ये सारी मानसिक समस्याएं है। अगर भौतिक समस्याओ के समाधान के साथ-साथ मानसिक समस्याओ को भी देखा जाता , इन पर ध्यान दिया जाता—भौतिक सपदा के साथ-साथ मानसिक समस्याए कितनी बढ़ेगी तो शायद अर्थशास्त्र का स्वरूप बदलता, उसकी अवधारणाएं भी बदलती।

जटिल है भावात्मक समस्या

सबसे ज्यादा जटिल है भावात्मक समस्या। आर्थिक सम्पदा बढ़ाने के लिए

लोभ को खुली छूट दी गई। जितना लोभ बढ़ाओ, आकांक्षा बढ़ाओ, उतना ही धन बढ़ेगा। इसका परिणाम यह आया—भावात्मक समस्याएं पैदा हो गई। एक सम्पन्न आदमी सम्पन्नतर और सम्पन्नतम बनना चाहता है। अधिक से अधिक सम्पन्न बनने की दौड़ है। संसाधन सीमित हैं। यदि असीम संसाधन होते तो शायद समस्या इतनी नहीं गहराती। असीम लालसा के लिए साधन भी असीम होने चाहिए लेकिन वे असीम नही हैं। अनंत इच्छा और अनंत संसाधन की एक युति बन जाती तो दोनों मे कही कोई संघर्ष नही होता, टकराव नही होता। समस्या यह है कि आकांक्षा, इच्छा अथवा लालसा असीम है और पदार्थ ससीम।

सूक्ष्म जगत्

हम स्थूल जगत मे जी रहे है। सूक्ष्म जगत् हमारा बहुत विशाल है। यदि उसे पकड पाते तो शायद पूर्ति के साधन भी बहुत विस्तृत बन जाते। हम जिस हाल मे बैठे है, उसमे भी असीम सूक्ष्म पदार्थ है। पदार्थ मे जितने सूक्ष्म तत्त्व हैं, उन्हे पकड़ जा सके तो दिल्ली, जो लगभग एक करोड की अवादी वाला शहर बनता जा रहा है खाद्य की पूर्ति इस हाल जितनी जगह से की जा सकती है। वाहर कहीं से भी अनाज मगाने की, दूसरी चीजे मंगाने की आवश्यकता ही न रहे। यह एक हाल पर्याप्त होता इतना विराट् है हमारा सूक्ष्म जगत् किन्तु वह हमारे काम नही आ रहा है। वह हमारी पकड़ से वाहर है। उसका उपयोग हम नही कर सकते। कुछ-कुछ ऐसे योगी हुए हैं जो सूक्ष्म को पकडने लग गए थे। उन्हे वायुभक्षी कहा गया। उन्हे खाने की आवश्यकता नही पड़ती थी। भूख लगती तो पोषक अन्न की जरूरत नही, थोड़ी-सी हवा ले लेते, पूर्ति हो जाती। वायुभक्षी हवा से काम चला लेते थे, किन्तु वह शक्ति आज किसी मे नही है।

उपयोगिता की दृष्टि

हम केवल स्थूल पदार्थ के आधार पर जी रहे है। जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है—अनन्तप्रदेशी स्कध। स्कंध दो प्रकार के है—अनत परमाणुओ से वना हुआ सूक्ष्म स्कध और अनन्त परमाणुओ से वना हुआ स्थूल स्कंध। जो अनन्त परमाणुओं से वना हुआ सूक्ष्म स्कध है, वह भी हमारे काम नही आता। अनत परमाणुओ से वना हुआ स्थूल स्कंध ही हमारे काम आता है। हमारे उपयोग की सीमा वहुत छोटी हो गई है। अस्तित्व की सीमा इस विराट् व्रह्माण्ड मे वहुत विशाल है। किन्तु उपयोगिता की दृष्टि मे विचार करे तो हमारे काम आ सके, उसकी सीमा वहुत छोटी है।

जैन दर्शन मे उपयोगिता की दृष्टि से इस पर बहुत सूक्ष्म विचार हुआ है। कर्मशास्त्र मे कहा गया है—एक परमाणु स्कंध है, जो भाषा के लिए काम मे आता है। हम बोलते है, तब पौद्गलिक स्कंधो को ग्रहण करते है। वह उसके लिए काम आ सकता है, खाने के लिए काम आ सकता है किन्तु कर्मबन्ध के लिए काम मे नही आ सकता। कर्मबन्ध के लिए और अधिक गहरा स्कंध चाहिए। अनंत-अनन्त प्रदेश उसमे और मिल जाए, तब वह हमारे काम मे आता है।

सीमित हैं संसाधन

हमारी दुनिया उपयोगिता की दृष्टि से चलती है। श्वासोच्छ्वास के स्कंध, भाषा के स्कंध, मनन के स्कंध, शरीर के स्कंध—ये सारे उपयोगिता मे आने वाले स्कध बहुत सीमित है। जो स्थूल स्कंध बाहरी द्रव्य बनते है, वे और भी सीमित है। असीम लालसा की पूर्ति के लिए इन सीमित ससधानो की उपस्थिति अपर्याप्त है और यही सघर्ष का कारण है। हर राष्ट्र अधिक से अधिक ससाधनो को प्राप्त करना चाहता है। एक विकसित राष्ट्र चाहता है—हमारी विकास की अवधारणा सफल बने। सफलता के शिखर पर जाने के लिए अनेक राष्ट्रो के ससाधनो का शोषण किया जाता है। एक शक्तिसम्पन्न राष्ट्र ऐसा कर लेगा, दो राष्ट्र ऐसा कर लेगे, चार कर लेगे, किन्तु शेष का क्या होगा? वे कैसे कर पाएगे? उनके पास तो कुछ बचेगा ही नही। समस्या वैसी ही बनी रहेगी। इसलिए आज इस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

दो महत्त्वपूर्ण निर्देश

भगवान महावीर ने अपने व्रती समाज के लिए जो निर्देश दिए थे, उनमे दो निर्देश ये है—

- वणकम्मे—जगलो की कटाई न हो।
- फोडीकम्मे—भूमि का उत्खनन न हो।

ये दोनो निर्देश पर्यावरण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। वणकम्मे और फोडीकम्मे—ये दो शब्द नए अर्थशास्त्र की नीव बन सकते है। यद्यपि एक समस्या है—उस समय आबादी कम थी। आज बहुत बढ़ गई है। एक समय होता है आबादी बढ़ जाती है और एक समय आता है, आबादी घट जाती है। आबादी बढी है इसलिए आवश्यकताएं भी बहुत बढ़ गई है।

भूख की चिन्ता कहां है ?

पूंजीवादी अर्थशास्त्र का यही तो दर्शन है—आबादी बढ़ने पर विशाल कारखानों का जाल न बिछाएं तो उसकी आवश्यकताओ को पूरा नही किया जा सकता। हमारी अनिवार्यता है बड़े कारखानो का निर्माण करना। इस तर्क मे दम है। यह चिन्तन बिल्कुल बकवास नही है। किन्तु यह तर्क तब ज्यादा सार्थक होता, जब बड़े कारखानो, बड़े पैमाने पर कृषि और रासायनिक द्रव्यो का प्रयोग मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति मे होता। यथार्थ यह है—बड़े कारखानो और उनके द्वारा प्राप्त होने वाली बड़ी सम्पत्ति का उपयोग उस आवश्यकता की पूर्ति मे नही हो रहा है। उसका उपयोग मनुष्य पर अपना अधिकार और प्रभुत्व जमाने की दिशा मे ज्यादा हो रहा है। मनुष्य की भूख की चिन्ता होती तो परमाणु बम की दिशा मे प्रस्थान नही होता। यह क्यो हुआ? यह कोई आवश्यकता की पूर्ति तो नही है ? अन्तरिक्ष की ओर प्रस्थान क्यो हुआ है?

लोभ है पृष्ठभूमि में

विज्ञान ने सत्य को खोजा है, यह बात सत्य है, किन्तु अधूरी बात है। महावीर ने सत्य की खोज के साथ यह निर्देश भी दिया—सबके साथ मैत्री करे। अगर सत्य की खोज के साथ यह सूत्र भी जुड़ा रहता तो परमाणु अस्त्र बनाने की जरूरत न होती और दुनिया का इतना बड़ा बजट शस्त्र-निर्माण मे न लगता। मैत्री की बात छोड़कर केवल सामाजिक गरीबी, सामाजिक भूख मिटाने के लिए कितने बड़े-बड़े कल-कारखाने और बड़े पैमाने पर कृषि उत्पादन का प्रयत्न और आयोजन चल रहा है। यह तर्क अपने आप मे शून्य होता चला जा रहा है। वक्तव्य एक दिशा मे है और गति दूसरी दिशा मे हो रही है। भूमि पर, जल पर या आकाश मे अपना प्रभुत्व स्थापित करना, वाजार पर प्रभुत्व स्थापित करना—सारा प्रयत्न इसी दिशा मे हो रहा है। इन सब उपक्रमो के पीछे है लोभ। इसके परिणाम भी सामने आ रहे है। इसीलिए एक नया विचार सामने आया—आज पूजीवादी और साम्यवादी अर्थशास्त्र मानव जाति के कल्याण के लिए नही है। अव नए अर्थशास्त्र की कल्पना करनी चाहिए।

अनेकान्त का मार्ग

समस्या यह है—युग इतना आगे वढ गया है कि अब दो हजार वर्ष, ढाई हजार वर्ष पहले के युग मे उसे ले जाना असभव है।गाधीजी सा सादा जीवन जीना बड़ा कठिन है। गांधीजी ने दो हजार वर्ष पहले का जीवन जिया था किन्तु आज

विश्वविद्यालयी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति, अर्थशास्त्र की आधुनिक अवधारणाओ मे पला-पुसा मानव वैसा जीवन जीने के लिए तैयार होगा, यह कल्पना नही की जा सकती। इसलिए एक मध्यम मार्ग का निर्माण आवश्यक है, जिससे वर्तमान की समस्याओ को भी समाधान मिले और आदमी को उस भयावह कालखण्ड मे जीने के लिए बाध्य न होना पडे। यह मार्ग अनेकान्त का मार्ग हो सकता है।

दृष्टिकोण बदले

हम प्रेरणा को भी बदले और दृष्टिकोण को भी बदले। दृष्टिकोण का निर्माण जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हो। इसके लिए जिस अर्थशास्त्र की कल्पना की जा रही है, उसका पहला सूत्र होगा—प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति को प्राथमिकता। जब तक विश्व मे मानव समाज का एक भी वर्ग भूखा है, तब तक शस्त्र निर्माण की दिशा मे हमारा पग नही उठेगा, विलासिता पूर्ण पदार्थो के निर्माण के लिए हमारे कारखाने नही चलेगे।

अनिवार्यता और विलासिता

हम अर्थशास्त्रीय दृष्टि से विचार करे। दो प्रकार की अवधारणाएं हमारे सामने आएगी—एक अनिवार्यता और दूसरी विलासिता। अनिवार्यता या आवश्यकता वह है, जिसकी प्राप्ति होने पर सुख नही मिलता और अप्राप्ति मे कोई दु ख नही होता। रोटी आवश्यकता है, मिली तो सुख नही होगा, बस भूख मिट जाएगी और न मिलने पर दु:ख बहुत होगा। एक विलासिता की सामग्री है, प्रसाधन की सामग्री है, मिलने पर आदमी को बहुत सुख होता है किन्तु न मिलने पर कोई दु:ख नही होगा। नए अर्थशास्त्र के निर्माण मे यदि यह अवधारणा रहे—जब तक प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति न हो, तब तक विलासिता की साधन सामग्री का निर्माण नही होगा तो आज की भूखमरी और बेरोजगारी की समस्या का बहुत अशो मे समाधान हो जाए।

दाता और याचक का भेद

आज सहयोग की बात चल रही है। विकसित राष्ट्र विकासशील देशो को सहयोग दे रहे है। व्यवहार मे तो यह बहुत अच्छी बात लगती है, उदारीकरण की बात लगती है, किन्तु आखिर इस बात को सब जानते है कि दाता और याचक का भेद बराबर बना रहेगा। संस्कृति के कवि ने बहुत सुन्दर लिखा है—**दातृयाचकयो: भेदः कराभ्यामेव सूचितम्**—लेने वाला हाथ नीचे रहेगा और देने वाला हाथ ऊपर होगा। इस स्थिति को अस्वीकार नही किया जा सकता। उसके साथ कितने प्रतिबन्ध,

कितनी शर्ते जुड़ जाती है, बिल्कुल-आर्थिक गुलामी की सी स्थिति बन जाती है। बौद्धिक सम्पदा पर भी प्रतिबन्ध लग जाता है।

एक संतुलन बने

इन सारी समस्याओ के संदर्भ मे आज एक मध्यम मार्ग का अनुसरण बहुत जरूरी है। छोटे उद्योग, सबके पास अपना काम, कोई भी इतना बड़ा न हो कि जब चाहे अपने से निर्बल को दबा सके। एक आदमी के शक्तिशाली होने का मतलब है, कमजोरो पर निरन्तर मंडराता खतरा। एक संतुलन बने। इस प्रकार के सूत्र भगवान् महावीर की वाणी मे मिलते है, क्योकि उनका चिन्तने अनेकान्त से अनुप्राणित था। सबसे बड़ी बात है मानवीय अस्तित्व और मानवीय स्वतन्त्रता की इस पर आच न आए और आवश्यकताओ की पूर्ति भी हो जाए, ऐसे अर्थशास्त्र की आज परिकल्पना आवश्यक है। रोटी और आजादी, रोटी और आस्था—दोनो एक दूसरे का विखण्डन न करे, दोनो साथ-साथ चले। पुराने जमाने में कहा जाता था—लक्ष्मी और सरस्वती दोनो साथ-साथ नही रहती। आज यह धारणा बदल गई है। दोनो एक साथ चल रही है। फिर ऐसा क्यो नही हो सकता? रोटी और आजादी भी एक साथ क्यो नही रह सकती? ऐसे अर्थशास्त्र की आज बड़ी आवश्यकता है। मै कल्पना करता हू कि अनेकान्त का यह महान् अवदान मानव जाति के लिए कल्याणकर होगा और मानव जाति अनेकान्त के मंत्रदाता भगवान् महावीर के प्रति स्वयं सहज श्रद्धाप्रणत होगी।

गरीबी और बेरोजगारी

महावीर ने कहा—**अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे**—मनुष्य अनेक चित्त वाला है, नाना प्रकार की क्षमता वाला है। योग्यता मे विभेद है। बौद्धिक क्षमता, व्यावसायिक क्षमता, अर्थार्जन की क्षमता, व्यवहार की क्षमता, सबमे समान नही होती। प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न क्षमता वाला है, इसलिए समानता हमारा एक आदर्श हो सकता है, मौलिक स्तर पर समानता की बात हो सकती है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर, पर्याय के स्तर पर समानता की बात संभव नही है।

प्रश्न आर्थिक समानता का

महावीर ने कहा—**णो हीणे नो अइरित्ते**—कोई हीन नही है, कोई अतिरिक्त नही है। यह निश्चयनय की वक्तव्यता है, अतिम सत्य का निरूपण है। किन्तु जहा पर्याय का जगत् है, व्यवहार का जगत् है, वहा एक व्यक्ति हीन भी है, अतिरिक्त भी है। योग्यता सबमे समान नही होती। इसलिए आर्थिक समानता की बात एक यात्रिक रूप मे ही सोची जा सकती है, वास्तविकता के धरातल पर नही।

चार प्रश्न

वर्तमान अर्थव्यवस्था के सामने चार प्रश्न है—

- ❑ गरीबी को मिटाना
- ❑ जनसंख्या की वृद्धि को रोकना
- ❑ पर्यावरण मे सुधार करना
- ❑ बेरोजगारी का उन्मूलन करना।

जनसंख्या

गरीबी और पर्यावरण के बीच मे है जनसंख्या वृद्धि। आबादी बढ़ती है तो गरीबी भी बढ़ती है, पर्यावरण भी दूषित होता है। सबसे पहली बात है जनसख्या की वृद्धि पर नियंत्रण कैसे हो? इसके लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न किए गए, किए जा

रहे है, किन्तु जनसख्या की वृद्धि पर अंकुश नही लग पाया। आवादी निरन्तर वढ़ती जा रही है। कुछ वर्ष पहले हिन्दुस्तान की आबादी अस्सी करोड के लगभग थी। अब नब्बे करोड को भी पार कर रही है। कहा जा रहा है—हिन्दुस्तान इक्कीसवीं शताब्दी का स्वागत एक अरब तीस करोड़ की जनसंख्या के साथ करेगा। जब जनसंख्या बढ़ती है तब पदार्थ पर भी असर आता है, गरीबी और अभाव की समस्या भी उलझती है,.पर्यावरण की समस्या भी जटिल बनती है।

क्यों बढ़ती है आबादी?

एक बडा प्रश्न रहा—आबादी की बढ़त कैसे रुके? आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व आबादी बहुत कम थी। आबादी के घटने-बढने मे भी कुछ कारण बनते हैं। प्रत्येक हानि और लाभ के पीछे महावीर ने चार कारण वतलाए—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। हानि और लाभ मे ये चारो निमित्त बनते है। जैन साहित्य मे उल्लेख है—भगवान ऋषभ के बाद तीर्थकर अजित का समय ऐसा आया, जब आबादी सबसे ज्यादा बढ़ी। जनसंख्या वृद्धि मे कालखण्ड भी निमित्त बनता है।

गरीबी और जनसंख्या

ऐसा लगता है—गरीबी और जनसंख्या मे भी कोई निकट का सम्बन्ध है। गरीब के संतान ज्यादा होती है क्योकि कुपोषण मे आबादी ज्यादा बढ़ती है। विकसित राष्ट्रो मे आबादी की वढ़त का अनुपात कम है, अविकसित और निर्धन राष्ट्रो मे आवादी की बढत का अनुपात ज्यादा है। प्राचीन सस्कृत साहित्य मे एक प्रसंग आता है—दरिद्रता दु खतर है और उसके साथ जुडा दु.ख है संतान का आधिक्य। दारिद्रता की पीडा और संतति के आधिक्य की पीड़ा—दोनो ओर से आदमी पीडत होता है। जनसंख्या-वृद्धि के अनेक कारण हो सकते है, किन्तु कालखण्ड का प्रभाव और कुपोषण—ये दोनो जनसख्या वृद्धि के सवसे प्रमुख कारण बनते है।

अतीत : वर्तमान

ढाई हजार वर्ष पूर्व यह समस्या नहीं थी। गरीवी थी, कुछ अशों मे वेरोजगारी थी, किन्तु जनसंख्या अधिक नही थी। व्यवस्था ग्राम पर निर्भर थी। लोग गाव मे ही काम चला लेते, वहीं सब कुछ वना लेते। गांव मे ही सारी सामान्य आवश्यकताए पूरी हो जाती। उस समय वीमारियां भी वहुत ज्यादा नही थी। सामान्य वीमारियों का जगलो की जडी-वूटियो से ही इलाज हो जाता था।

वर्तमान कालखण्ड मे आबादी भी बहुत बढ़ गई है। उसकी पूर्ति के साधन भी नही है। गाव लगभग खाली हो रहे है और बड़े-बड़े नगर बस रहे है। महानगर की जनसख्या एक करोड़ से भी अधिक है। सब कुछ निर्भर है गांव और गाव के परिपार्श्व पर। ऐसी अवस्था मे बेरोजगारी की समस्या बढ़ी है। काम बहुत है, किन्तु उन्हे खोजने की सबकी व्यावसायिक बुद्धि समान नही होती। इसलिए बेरोजगारी की बात सामने आती है।

भाग्यवादी अवधारणा

एक धारणा रही भाग्यवाद की। हिन्दुस्तान और एशिया महाद्वीप मे तो यह भाग्यवाद की धारणा बहुत प्रगाढ़ रही है। आदमी यह सोचकर हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाएगा—परमात्मा की जैसी मरजी होगी, वैसा होगा या भाग्य मे जैसा लिखा है, वैसा होगा, क्यो व्यर्थ मे हाथ-पांव मारे ? भाग्यवादिता की इस मनोवृत्ति ने गरीबी और बेरोजगारी की बढ़त मे अपना योगदान दिया है।

महावीर का सूत्र

महावीर अनेकान्तवादी थे, वे न केवल भाग्यवादी थे और न केवल पुरुषार्थवादी। उनके दर्शन मे भाग्य और पुरुषार्थ—दोनो का समन्वय था। भाग्य भी काम करता है, किन्तु पुरुषार्थ मे इतनी शक्ति है कि वह भाग्य को भी बदल सकता है। महावीर ने एक सूत्र दिया था—जैसा लिखा है, वैसा नही होगा। बहुत सारे दार्शनिक यह मानते थे—जैसा भाग्य मे लिखा है, वैसा ही होगा। कोई इसे बदल नही सकता, कम ज्यादा नही कर सकता। किन्तु महावीर ने ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित नही किया। उन्होने कर्मवाद के नए सूत्र खोजे और कहा—भाग्य हमारी प्रवृत्तियो को सचालित करने का एक कारण तो है, किन्तु वह एकछत्र कारण नही है। उसे भी पुरुषार्थ के द्वारा बदला जा सकता है।

गरीबी और कर्म

हम यह मानकर न बैठे—गरीब के भाग्य मे गरीबी लिखी है और अमीर के भाग्य मे अमीरी लिखी है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से, अपने बौद्धिक बल और कर्तृत्व से अपार सपदा अर्जित कर सकता है। जिसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनुकूल नही मिला, बुद्धि की अनुकूलता नही रही, पुरुषार्थ भी अनुकूल नही हुआ, वह आदमी गरीब रह गया। इसका भाग्य से कोई सम्बन्ध नही है। बहुत सारे लोग भाग्य के आधार

पर इसकी व्याख्या करते है, किन्तु महावीर ने इसे कभी मान्य नही किया कि अमीरी या गरीबी कर्म से होती है। वास्तव मे पदार्थ का योग होना बाह्य निमित्तो पर ज्यादा निर्भर है, वह अपने कर्मों पर निर्भर नही है।

जहां गरीबी थी, अमीरी है

जैनदर्शन मे इस प्रश्न पर काफी गम्भीरता से चिन्तन हुआ है और आज भी कुछ विद्वान् इस प्रश्न पर विमर्श कर रहे है—धन मिलता है, वह कर्म से मिलता है या और किसी कारण से मिलता है। जहां तक हमने चिन्तन किया है, भाग्य का, कर्म का धन की प्राप्ति से कोई सम्बन्ध नही है। इसका सम्बन्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के साथ है। मध्य एशिया या अरब देशो का उदाहरण ले। जब तक पैट्रोल नही निकला तब तक वहां का वातावरण गरीबी का रहा। पैट्रोल निकलने के बाद उनकी स्थिति एकदम बदल गई। आज दुनिया के अमीर देशो मे उनकी गिनती है। राजस्थान का एक जिला है—उदयपुर—राजसमन्द। जब तक वहां मार्बल नही निकला था, बहुत सम्पन्नता नही थी। मार्बल उद्योग के बाद आज वहां सम्पन्नता बढ़ गई है। वस्तुतः कर्म से इसका इतना सम्बन्ध नही है, जितना परिस्थिति और वातावरण से है। इसलिए महावीर की व्यवस्था मे गरीबी और अमीरी को कर्म या भाग्य से नही जोड़ा जा सकता। यह सारा निर्भर है व्यावसायिक कौशल और कर्तृत्व-कौशल पर।

दुर्भिक्ष की समस्या

उस समय की एक त्रासदी थी दुर्भिक्ष। दुर्भिक्ष के समय विपदा आ जाती थी। बीसवी शताब्दी मे हम दुर्भिक्ष की भयंकरता की कल्पना नही कर सकते। बीसवी शताब्दी मे इतने साधन बन गए है कि दुनिया के किसी भू-भाग मे दुर्भिक्ष आए, अकाल की स्थिति रहे, तो किसी भी स्थान से अनाज की सप्लाई की जा सकती है। यातायात और संचार के साधन इतने सुलभ है कि यह कोई समस्या नही रही। उस काल मे तो दुर्भिक्ष के कारण भयंकर स्थिति बन जाती थी। पास मे धन होते हुए भी मरने के लिए विवश होना पड़ता था। बीसवी शताब्दी मे मनुष्य ने इतनी क्षमता पैदा कर ली है कि वह एक स्थान से किसी वस्तु को दूसरे स्थान पर सहजता से पहुंचा सकता है।

संसाधन किस दिशा में

विश्व की सारी सम्पदा, सारे संसाधन गरीबी को मिटाने मे लगते तो आज स्थिति बहुत भिन्न होती, किन्तु बीच मे व्यवधान आ गए। जो सम्पदा है, वह मानव को सुखी

या सम्पन्न बनाने की दिशा मे नही लगी, सहारक अस्त्रो के निर्माण मे लगी। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से भयभीत हो गया। शस्त्रो की होड़ सी लग गई। अभी-अभी यू० एन० ओ० की जो रिपोर्ट आई है, उसके आंकडो को देखे तो पता चलेगा कि अर्थशक्ति और संसाधान किस दिशा मे लग रहे है। आठ सौ मिलियन डालर प्रतिवर्ष सुरक्षा पर व्यय हो रहे है। अगर रुपयो मे हिसाब करे तो चालीस लाख अस्सी हजार करोड़ या दो सौ अड़तालीस खरब रुपए सुरक्षा पर खर्च हो रहे है। मानव की सुरक्षा के लिए नही, अपनी भौगोलिक सुरक्षा के लिए इतना व्यय किया जा रहा है।

धनी देश विकासशील देशो को मात्र पचास मिलियन की सहायता दे रहे है। यानी एक लाख पचपन हजार करोड़ रुपए सहयोग के रूप मे दे रहे है। अब दोनो की तुलना सहज ही की जा सकती है। सहायता की राशि कितनी कम है और सुरक्षा पर व्यय की जाने वाली राशि कितनी ज्यादा है।

आर्थिक विकास : अपराध

मनुष्य इमोशनल प्राणी है। उसके भीतर क्रोध, अहकार, लोभ, भय—ये सारे इमोशन काम कर रहे है। गरीबी मिटाने की भावना भी कभी-कभी जागती है, पर इससे भी ज्यादा प्रबल जो इमोशन है, वे है भय और वासना के, अधिकार और लोभ के। ये इतने प्रबल है कि करुणा की भावना, सवेदनशीलता की भावना उत्पन्न ही नही होने देते। यदि वह उत्पन्न भी होती है तो उसे मद्धिम कर देते है। यून० एन० ओ० की रिपोर्ट मे बताया गया है—एक सौ तिहत्तर राष्ट्रो मे इकोनामिक ग्रोथ मे अमेरिका का आठवा नम्बर है। किन्तु अपराध, बलात्कार, हत्या, अपहरण आदि मे अमेरिका नम्बर एक पर है। कुछ राष्ट्र है, जिनमे बलात्कार, हत्याए ज्यादा होती है। जर्मनी मे पागलपन ज्यादा है। यह स्थिति विकसित राष्ट्रो की है।

ध्यान दें दोनों पर

हम जब तक आन्तरिक या भावात्मक स्थिति को साथ मे नही जोड़ेगे, तब तक गरीबी, बेरोजगारी और जनसख्या वृद्धि की समस्या को सुलझाया नही जा सकेगा। केवल निमित्त और परिस्थिति पर चले तो एकांगी दृष्टिकोण होगा और केवल आन्तरिकता पर चले तो भी एकागी दृष्टिकोण होगा। अनेकान्त की दृष्टि से दोनो का समन्वय करके चले — मनुष्य भीतरी जगत् मे क्या है और बाहरी जगत् मे क्या है। भीतरी जगत् को भी बदलना है और बाहरी जगत् को भी बदलना है।

साम्यवादी धारणा

समाजवादी धारणा ने एक बड़ा काम किया था — पदार्थ के प्रति अनासक्ति का प्रयोग । बहुत अच्छी और सार्थक कल्पना थी—सम्पत्ति मेरी नही है संपत्ति समाज की है, मेरा इस पर कोई अधिकार नही है । यह एक बहुत बडा महत्त्वपूर्ण दर्शन था और है । साम्यवाद का रूप चाहे कुछ भी बना हो, किन्तु साम्यवाद के पीछे जो एक चिन्तन था, धारणा थी, उसका महत्त्व कभी कम नही होगा ।

व्यापक दर्शन

महावीर के दर्शन और साम्यवाद की अवधारणा—दोनो की तुलना करे। महावीर कहते है—न मे माया, न मे पीया, न मे भाया—मा मेरी नही है, पिता मेरा नही है, भाई मेरा नही है । धन मेरा नही है, मकान मेरा नही है । भार्या मेरी नही है, लडकी मेरी नही है । साम्यवाद ने प्रयोग किया । एक बच्चा जन्मा और परिवार से अलग कर दिया गया । प्रारम्भ से ही यह सस्कार आ जाते है कि यह मेरा नही है । जब तक यह मेरापन रहेगा, व्यक्ति न्याय नही कर सकेगा, समाज के प्रति ईमानदार नही हो सकेगा। धन मेरी सम्पत्ति नही है, सब समाज का है, यह एक व्यापक दर्शन दिया था साम्यवाद ने ।

यदि ऐसा होता

महावीर का दर्शन आत्मा तक सीमित रहा, अपने भीतर तक सीमित रहा और समाजवाद का दर्शन केवल बाहर तक सीमित रहा, सामाजिक परिवेश तक सीमित रहा । दोनो मिल नही पाए इसलिए बात पूरी नही बनी । अगर दोनो मिल जाते, भीतर का भी परिवर्तन होता — शरीर मेरा नही और बाहर का भी परिवर्तन होता, व्यवस्थागत परिवर्तन भी घटित होता — धन, सम्पदा आदि मेरे नही है तो शायद एक नया ही विश्व वनता । किन्तु ऐसा हुआ नही । दोनो को मिलाया नही गया । जहा समाजवाद ने 'यह मेरा नही है,' इस सिद्धान्त को दण्डशक्ति के बल पर थोपा, वही महावीर का सिद्धान्त हृदय-परिवर्तन के आधार पर स्वीकृत हुआ, किन्तु वह एक धार्मिक धरातल पर स्वीकृत हुआ, सामाजिक व्यवस्था के धरातल पर स्वीकृत नही हुआ । अगर ये दोनो परिवर्तन संयुक्त रूप से लागू होते तो एक नई विश्वव्यवस्था का प्रादुर्भाव होता ।

मुख्य कारण यही है

गरीवी और वेरोजगारी नही मिटने का कारण मुख्य रूप से यही है—इसके साथ

केवल समाज व्यवस्था है, राज्य व्यवस्था है, दण्डशक्ति है, किन्तु आन्तरिक परिवर्तन नही है। यदि आंतरिक परिवर्तन भी होता तो शायद गरीबी की समस्या सुलझ जाती। महावीर ने संवेदनशीलता और करुणा को बहुत महत्त्व दिया था। सामाजिक प्राणी वह होता है, जो संवेदनशील होता है। जिसमे अपनी अनुभूति और दूसरो की अनुभूति का जोड होता है, वह दूसरो को भी अपने समान समझता है। अगर सवेदनशीलता का यह सूत्र कामयाब होता तो इतनी विशाल धनराशि सहारक अस्त्र-शस्त्रो मे न लगकर मानव की भलाई मे लगती।

यू० एन० जी० पी० की रिपोर्ट

वर्तमान की स्थिति देखे। यू० एन० जी० पी० की रिपोर्ट के अनुसार विश्व मे पाच अरब तीस करोड़ आदमी हैं। उनमे एक अरब तीस करोड धनी है या अमीर देशो मे है और चार अरब आदमी निर्धन या विकासशील देशो मे है। यह एक बहुत बड़ा अन्तर है। इसका अर्थ है—सतत्तर प्रतिशत लोग गरीब है। विश्व की आय का उन्नीस प्रतिशत मात्र निर्धनो को मिलता है। इक्यासी प्रतिशत अमीरो की जेब मे जा रहा है। इतनी बड़ी असमानता की स्थिति मे गरीबी मिटाने की बात हास्यास्पद सी लगती है। गरीबी मिटाने की चाबी अमीर देशो के हाथ मे है। वे चाहे तो गरीबी को मिटा दे, चाहे तो और बढ़ा दे। वे ऐसा क्यो चाहेगे?

प्रभुत्व की वृत्ति

मनुष्य की एक भावात्मक प्रवृत्ति होती है प्रभुत्व की, स्वामित्व और अधिकार की। रावण ने इन्द्र के पास अपना दूत भेजकर कहलाया—मुझे तुम्हारे राज्य की जरूरत नही है। मै केवल यही चाहता हू कि तुम मेरे स्वामित्व को स्वीकार कर लो, मेरे अधीन बन जाओ। फिर तुम चाहे जो करो। अकबर भी राणा प्रताप से यही चाहता था—एक बार महाराणा उसे सम्राट् के रूप मे स्वीकार कर ले। यह प्रभुत्व की भावना बहुत व्यापक है। जिनके पास आर्थिक साम्राज्य है, प्रभुसत्ता है, वे दूसरो पर अपना स्वामित्व स्थापित करना चाहते है। जो धनी बन गए, उनमे आपस मे स्पर्धा है, दूसरो का स्वामी बनने की। मानवीय सवेदना जागती तो ये आपराधिक स्थितिया विश्वव्यापी नही बनती।

गरीबी की रेखा

जो धनी वने है, उनकी स्थिति भी कम दु खद नही है। अमीरी से पैदा होने वाली

बीमारियां उन देशो को अपनी लपेट मे ले चुकी है । अमीरी ज्यादा हो, बीमारियां कम हो, यह कभी सम्भव नही । संपदा के विकास के साथ-साथ बीमारी की समस्या भी बढ़ती है । उसके साथ भावात्मक रुग्णता आती है । अमीरी और बीमारी—इन दोनों को कभी अलग नही किया जा सकता । एक ओर अमीर बीमारी भुगत रहे हैं तो दूसरी ओर गरीब भी बीमारी भुगत रहे है । अपोषण और कुपोषण उनके स्वास्थ्य को लीलते जा रहे है । गरीब देशो मे आज गरीबी की रेखा के नीचे जीने वाले लोगों का अनुपात बहुत बड़ा है । एक निर्धारण कर लिया—गांव मे लोगो को चौबीस सौ कैलोरी मिले और शहरी आदमी को इक्कीस सौ कैलोरी मिले तो संतुलन बना रहेगा । इससे कम कैलोरी मिले तो यह गरीबी की रेखा से नीचे जीवन जीने वाली स्थिति होगी । आज गरीबी की रेखा के नीचे जीवन जीने वालो की संख्या गरीब देशो मे, विकासशील देशो मे बहुत ज्यादा है ।

गांवों की स्थिति

बहुत वर्ष पहले की बात है । पूज्य गुरुदेव दिल्ली मे विराज रहे थे । डा० राममनोहर लोहिया आए । लोहियाजी ने बातचीत के अनंतर कहा—महाराज ! हमारे देश मे आज पच्चीस-तीस करोड़ लोग ऐसे है, जिन्हे दो समय खाने को नही मिलता । आपको सही स्थिति जाननी हो तो मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) को मेरे साथ गावो मे भेजे । ये वहां चलकर स्वय अपनी आंखो से गां की स्थिति देखे ।

वास्तव मे यह स्थिति है—करोड़ो लोगो को भरपेट खाने को नही मिलता । एक अन्तर अवश्य है और वह यह है—प्राचीन समय मे आदमी गरीबी या भूख से मर जाता था । आज उसे मरने नही दिया जाता, दु:ख भोगने के लिए जिन्दा रखा जाता है । कोई मरता है तो सरकार के लिए खतरा पैदा होता है, निन्दा-आलोचना होती है । वह मरने के लिए स्वतन्त्र नही है और गरीबी भोगते हुए जिन्दा रहने के लिए अभिशप्त है । यह स्थिति है आज के आदमी की । इस स्थिति को तब तक नही बदला जा सकता, जब तक महावीर के इस सिद्धान्त 'स्वामित्व का सीमाकरण करो' को स्वीकार नहीं कर लिया जाता ।

संग्रह के परिणाम

आज के अर्थशास्त्रियो ने भी संग्रह के दो परिणाम बतलाए है—भूख और युद्ध । महावीर ने कहा—'संग्रह मत करो ।' अगर संग्रह का सीमाकरण होता है तो गरीबी की समस्या सहज रूप से सुलझाई जा सकती है, बेरोजगारी की समस्या को भी

सुलझाया जा सकता है। शेष रहती है जनसंख्या की समस्या। गरीबी कम होगी, पोषण ठीक मिलेगा तो जनसंख्या की समस्या भी नही रहेगी। मूल कारण है गरीबी और गरीबी का प्रतिफल है जनसंख्या की वृद्धि। विकसित राष्ट्रो की स्थिति देखे। वहा जनसंख्या बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है। रूस मे उन माताओ को पुरस्कृत किया गया, जो अधिक संतान पैदा करती है। जहां चीन और हिन्दुस्तान मे परिवार नियोजन के प्रयत्न हो रहे है, वहां जर्मनी और विकसित राष्ट्रो मे परिवार बढ़ाने का उपक्रम हो रहा है।

अनुपात बढ़ रहा है

इस बात पर गम्भीरता से ध्यान दे—हम सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन को बाह्य स्तर पर घटित करना चाहते है जबकि मनुष्य जीता है भीतर के स्तर पर। जब तक भीतर के स्तर का स्पर्श नही होगा, अन्तर्जगत को नही छुएगे, तब तक समस्या का समाधान नही होगा। जब तक संग्रह, लोभ और स्वार्थ की वृत्ति को बढ़ाने की बात रहेगी, गरीबी भी बराबर रहेगी। आकड़े बताते है—विकसित राष्ट्रो मे, अमीर राष्ट्रो मे गरीबी का अनुपात बढ़ रहा है। अमेरिका में सतरह प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा के नीचे जीने वाले है। यह अनुपात बढ़ता जा रहा है। क्योकि वहाँ संपदा पर इतना कब्जा हो गया है कि दूसरो के लिए बहुत कम बचता है। जब तक यह कब्जा करने की बात, छीनने की बात रहेगी, तब तक समस्या का समाधान नही होगा।

नए मानव का सृजन

यदि हम कुछ होना चाहते है, कुछ पाना चाहते है या कुछ बनना चाहते है तो रास्ता दूसरा होगा। अगर संग्रह करना चाहते है तो रास्ता दूसरा होगा। ये दो भिन्न रास्ते हैं। इसलिए हम पुनर्विचार करे। अर्थशास्त्र को धर्मशास्त्र या अध्यात्मशास्त्र के परिपार्श्व मे रखे। यह इसलिए आवश्यक है, जिससे अर्थशास्त्र अपने ढग से संचालित हो, किन्तु धर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र की छत्रछाया मे संचालित हो। अर्थशास्त्र, मानसशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, इनको एकान्तत· काट कर न देखे। एक दूसरे पर एक दूसरे का जो प्रभाव है, उसे देखे, उसका अध्ययन करे, इस सचाई को जाने—कौन-सा शास्त्र किस शास्त्र को प्रभावित कर रहा है। ऐसा होगा तो सचमुच एक नए अर्थशास्त्र की परिकल्पना फलित होगी। उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए नए मानव का सृजन करना होगा। नया मनुष्य ही आज की उलझनो का समाधान खोज पाएगा।

महावीर, मार्क्स, केनिज और गांधी

सिद्धान्त और व्यक्तित्व, मंत्रदाता और मंत्र, सूत्रदाता और सूत्र — इन दोनो का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। सिद्धान्त की चर्चा करे तो सिद्धान्त के प्ररूपक की चर्चा करना भी आवश्यक है। सिद्धान्त के प्ररूपक की चर्चा करे तो सिद्धान्त की चर्चा करना भी आवश्यक है। सिद्धान्त की चर्चा करना सरल है, किन्तु सिद्धान्त के प्रतिपादक की चर्चा करना कठिन है। सिद्धान्त को अध्ययन के द्वारा जाना जा सकता है, किन्तु व्यक्ति को अध्ययन के द्वारा जाना जा सकता है, यह एकान्ततः कहना बड़ा कठिन है। व्यक्ति जितना दुर्गम होता है, सिद्धान्त उतना दुर्गम और दुर्बोध नही होता। आज तक जिन लोगो ने व्यक्ति को पहचानने का प्रयत्न किया है, उनका निर्णय कितना सही रहा है, मै नही कह सकता। बहुत भूल होती है व्यक्तितत्व को पहचानने मे । भाव जगत् इतना गूढ है कि व्यवहार के आधार पर हम उसका सही आकलन नही कर सकते। यद्यपि मनोवैज्ञानिको ने, व्यवहार मनोविज्ञान के अध्येताओ ने व्यवहार के द्वारा व्यक्ति को पहचानने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह भी कितना सार्थक हुआ है, यह एक प्रश्न है। वस्तुत कठिन काम है सिद्धान्त के आधार पर व्यक्ति की चर्चा करना। फिर भी व्यवहार के धरातल पर चर्चा करनी होती है।

चार व्यक्तित्व

चार व्यक्तित्व हमारे सामने है —

- भगवान् महावीर
- महात्मा गाधी
- केनिज
- कार्ल मार्क्स

इन्हें दो कोटियो मे विभक्त किया जा सकता है। महावीर और गांधी — ये एक कोटि के व्यक्ति है। मार्क्स और केनिज — ये दूसरी कोटि के व्यक्ति है।

आध्यात्मिक व्यक्तित्व

महावीर शुद्ध आध्यात्मिक व्यक्तित्व है। बाहर और भीतर, व्यवहार और

निश्चय — दोनो मे आध्यात्मिक व्यक्तित्व हैं। गांधी भीतर मे आध्यात्मिक व्यक्तित्व है और बाहर मे राजनीतिक व्यक्तित्व। गांधी ने इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए बहुत बार कहा— शुद्ध अर्थ मे मै आध्यात्मिक और धार्मिक व्यक्ति हूं। मैने राजनीति को माध्यम बनाया है जनता के साथ आत्मीयता स्थापित करने के लिए। उसके लिए यह सबसे बड़ा माध्यम है, इसलिए इसे मैने चुना है। किन्तु मेरी कोई भी राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति अध्यात्म से पृथक् नही हो सकती। अगर अध्यात्म से पृथक् है तो वह मेरे लिए कचरा है, धूलि है ,किसी भी तरह से वह मेरे लिए उपयुक्त नही है, मुझे मान्य नही है।'

भौतिक व्यक्तित्व

मार्क्स और केनिज आध्यात्मिक व्यक्तित्व नहीं है। ये शुद्ध रूप मे आर्थिक व्यक्तित्व है , भौतिक व्यक्तित्व है। न आत्मा, न धर्म, न मोक्ष, कोई अपेक्षा नही। केवल पदार्थवादी व्यक्तित्व है। उन्होने केवल उसी की चर्चा की है, उसी की चिन्ता की है।

दूसरा कोण

इन चारो को व्यक्तित्व के दूसरे कोण से देखे तो निष्कर्ष आएगा—

महावीर अहिसक क्रान्ति के पुरोधा है।

गांधी अहिंसा समन्वित सर्वोदयी आर्थिक व्यवस्था के पुरोधा है।

मार्क्स साम्यवादी आर्थिक क्रान्ति के पुरोधा है।

केनिज पूजीवादी आर्थिक क्रान्ति के पुरोधा है।

इन चारो के स्थूल व्यक्तित्व की पहचान हम इन शब्दो मे कर सकते है।

छह पेरामीटर

किसी व्यक्ति को जानने के लिए हमे पेरामीटर का उपयोग करना होता है। इन चार व्यक्तित्वो की तुलना हम निम्नांकित मानदण्डो के आधार पर कर सकते है—

- ❑ अभिमुखता
- ❑ प्रेरणा
- ❑ साध्य
- ❑ साधन
- ❑ प्रयोजन

अभिमुखता

कौन व्यक्ति किस दिशा मे जा रहा है, उसका मुख किधर है, इसके आधार पर उसके विषय मे बहुत कुछ जाना जा सकता है।

महावीर आत्माभिमुख हैं। उनका मुख उनकी दिशा अध्यात्म की ओर है।

गाधी ईश्वराभिमुखी है। वैष्णव सस्कारो मे पले-पुसे होने के कारण उन्होंने ईश्वर को सब कुछ माना। उनका एक सूत्र था-'ईश्वर ही सत्य हैं।' किन्तु जैसे-जैसे दृष्टिकोण व्यापक बना, सपर्क व्यापक बना, श्रीमद् राजचन्द्र जैसे लोगो के संपर्क के कारण जैन धर्म का प्रभाव भी उन पर बहुत रहा। व्यापक सपर्क और प्रभावो के कारण गाधी ने ईश्वर सत्य है, इस सूत्र को उलट दिया। उत्तरकाल मे उनका सूत्र बन गया-'सत्य ही ईश्वर है।' ईश्वराभिमुखी कहे या सत्याभिमुखी एक ही बात है।

पदार्थाभिमुखी

मार्क्स और केनिज--ये दोनो शुद्ध रूप मे अर्थशास्त्री है, दोनो पदार्थाभिमुखी है। मार्क्स भी पदार्थाभिमुखी है और केनिज भी पदार्थाभिमुखी है। इनका मुख पदार्थ की ओर है, अर्थ और संपदा की ओर है।

इस अभिमुखता के द्वारा हम इनके व्यक्तित्व को जान सकते है। व्यक्ति से जो सिद्धान्त निकलता है, उसमे उसकी प्रकृति और अभिमुखता प्रमुख कारण बनते है। कौन व्यक्ति किस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, यह उसकी प्रकृति स्वभाव और अभिमुखता पर बहुत निर्भर करता है।

प्रेरणा

दूसरा पेरामीटर है--प्रेरणा। प्रेरणा क्या रही है ? व्यक्ति किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर ही काम करता है। जैसी प्रेरणा होती है, वैसा ही वह काम करता है।

महावीर की प्रेरणा थी परमार्थ। अर्थ के साथ तीन कोटिया बन जाती है-स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ। महावीर की प्रेरणा है परमार्थ, परम अर्थ को प्राप्त करना। परम अर्थ का भारतीय चिंतन मे अर्थ रहा — , मोक्ष, बधनमुक्ति। बधनमुक्त होना परम अर्थ को प्राप्त करना है।

महात्मा गाधी की प्रेरणा भी यही है। गाधी भी अपना अंतिम लक्ष्य मोक्ष मानते है।

करुणा

मार्क्स के पीछे प्रेरणा है करुणा की। मार्क्स एक अर्थशास्त्री होने के साथ-साथ बहुत करुणाशील और संवेदनशील व्यक्तित्व है। हिन्दुस्तान मे सर्वोदय के विचारको ने उन्हे ऋषितुल्य माना है। वे गरीबी की पीड़ा और यातना भोग चुके थे। उनके मन मे करुणा थी और इसी से प्रेरित होकर ही उन्होने साम्यवादी अर्थशास्त्र का प्रतिपादन किया। उन्होने कहा — गरीबी को मिटाया जा सकता है। गरीबी और अमीरी-ये दोनो मनुष्य कृत है, इसलिए मनुष्य इन दोनो को समाप्त कर सकता है। गरीबी मनुष्य कृत है, इसलिए मनुष्य उसे मिटा सकता है। इसी प्रकार अमीरी भी मनुष्य कृत है।

गरीबी और अमीरी का कारण

इस चिंतन मे मार्क्स महावीर के निकट आ जाते है। महावीर का भी इस अर्थ मे यह सिद्धान्त रहा — अमीरी और गरीबी मनुष्य कृत हैं या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव कृत है। ये दोनो न कोई ईश्वरीय देन है, न कोई कर्म कृत है। बहुत सारे दार्शनिक इन्हे कर्मकृत मानते थे। बहुत सारे जैन लोग भी इन्हे कर्मकृत मान लेते थे किन्तु वास्तव मे जो जैनो का कर्मशास्त्र है, उसका अभिमत है— अमीरी और गरीबी, धन मिलना और उसका चले जाना, यह कोई कर्म का परिणाम नही है। यह कालकृत, परिस्थितिकृत, क्षेत्रकृत या विशेष अवस्थाकृत एक पर्याय है, जिससे आदमी गरीब बन जाता है या अमीर बन जाता है। यह कोई शाश्वत तत्व नही है कि गरीब गरीब रहेगा और अमीर अमीर रहेगा।

यह मानवीय है, मनुष्यकृत है, इसलिए इसे बदला जा सकता है, परिवर्तन किया जा सकता है। इस आधार पर करुणा की प्रेरणा पाकर मार्क्स ने साम्यवादी अर्थ व्यवस्था का प्रतिपादन किया और उसमे बतलाया — मनुष्य आर्थिक स्थिति से आगे जा सकता है। वह भूखा रहे, यह कोई कर्म का विधान नही है। कपडा न मिले, रोटी न मिले, यह कोई कर्म का फल नही है। इसे एक व्यवस्था के द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है।

स्वार्थ की प्रेरणा

केनिज के पीछे प्रेरणा है स्वार्थ की। सपन्नता का विकास और सबको सपन्न बना देने की प्रेरणा से वह भावित था। हर आदमी संपन्न बन जाए। इसमें स्वार्थ की प्रेरणा रही। उनका प्रतिपादन रहा — स्वार्थ सबसे बड़ी प्रेरणा है। इसे जितना उभारा जायेगा, उतना ही विकास होगा। केनिज का सारा सिद्धान्त ही स्वार्थ को उभारने का

है। लोभ बढाओ, स्पर्धा करो, आर्थिक विकास होगा।

साध्य

तीसरा पेरामीटर है साध्य। साध्य क्या हो? आदमी कोई भी कार्य करता है, उसमे साध्य का निर्धारण पहले करता है फिर साधन का चुनाव करता है।

महावीर का साध्य था—आध्यात्मिक विकास। गांधी का साध्य रहा आध्यात्मिक विकास औंर साथ-साथ मे सर्वोदयी या ग्राम्यव्यवस्था, विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का विकास। किन्तु मूलत. साध्य उनका आध्यात्मिक विकास ही था।

मार्क्स का साध्य रहा आर्थिक विकास । उनका सारा दर्शन इस पर केन्द्रित है कि अर्थ का विकास कैसे हो? उनके लिए शेष सब गौण हो गया पर सबको सब कुछ मिले, यह ठनका प्रयत्न रहा। केनिज का भी लक्ष्य अर्थिक विकास रहा।

इस अर्थ से महावीर और गाधी दोनो एक कोटि मे तथा मार्क्स और केनिज दूसरी कोटि मे आ जाते है।

साधन का चुनाव

चौथा पेरामीटर है साधन का चुनाव। यह बहुत महत्वपूर्ण है। साध्य कभी-कभी एक भी हो जाते है, किन्तु साधन मे बड़ी दूरी आ जाती है। महावीर ने अपनी साध्य की संपूर्ति के लिए साधन चुना अहिसा, अपरिग्रह और सयम। महात्मा गाधी ने साधन का चुनाव सत्य और अहिंसा के रूप मे किया ।मार्क्स ने साधन के चुनाव मे सदा मे अपनी नीति स्पष्ट करते हुए कहा — 'हमारा साध्य है आर्थिक विकास, गरीबी को मिटा कर गरीबो की पीड़ा को दूर करना ।अहिंसा से इसकी संपूर्ति होती है तो अच्छी बात है, किन्तु नही होती है तो हिंसा का आलम्बन लेने मे भी हिचकना नही है, सकोच नही करना है।' उसका स्पष्ट मत था — 'बुर्जुवा वर्ग कभी भी अपने अधिकार को छोड़ना नही चाहेगा। वर्ग सघर्ष अनिवार्य है और उसमे हथियारो का उपयोग भी अवश्यभावी है।'

साधन शुद्धि की विचारधारा

महावीर औंर गांधी दोनो साधनशुद्धि पर वल देते है। भारतीय चिंतन मे सबसे अधिक साधन शुद्धि पर वल दिया है महावीर ने। साधनशुद्धि नही है तो उनके लिए कुछ भी काम्य नही है । मनसा, वाचा, कर्मणा हमारा साधन शुद्ध होना चाहिए इतिहासकाल मे महावीर के पश्चात् आचार्य भिक्षु, जो तेरापथ के प्रवर्तक है,

साधनशुद्धि के विषय मे विस्तार से चर्चा की है। उन्होने कहा — जहा साधनशुद्ध नही है, हृदय परिवर्तन नही है, वहा अच्छे साधन को कभी प्राप्त नही किया जा सकता। फिर महात्मा गांधी ने भी साधनशुद्धि पर व्यापक बल दिया। इन दोनो के विचारो का सबंध जुड़ता है। गजरात के एक लेखक है गोकुलभाई ज्ञानजी। उन्होने अपनी एक पुस्तक लिखा—आचार्य भिक्षु के चतुर्थ पट्टधर जयाचार्य के द्वारा साधनशुद्धि का जो सूत्र था, बीज था, वह श्रीमद्राजचन्द्र के पास पहुंचा और श्रीमद्राजचन्द्र के द्वारा वह सूत्र महात्मा गाधी तक पहुंचा।

गांधी का मंतव्य

इस प्रकार साधनशुद्धि की एक पूरी श्रृखला और तादात्म्य की कड़ी प्राप्त होती है। श्रीमद् राजचन्द्र और महात्मा गाधी साधनशुद्धि पर अटल विश्वास करते थे। किन्तु मार्क्स शुद्ध आर्थिक व्यक्ति थे। जहां शुद्ध आर्थिक चितन होता है, वहा साधनशुद्धि का विचार गौण बन जाता है। ऐसा नही है कि वे हिसा के समर्थक या युद्ध के समर्थक थे किन्तु उनके सामने यह प्रश्न नही था कि केवल साधनशुद्धि पर ही चलना है। गाधी ने कहा-'शुद्ध साधन से स्वतंत्रता मिलती है तो मुझे मान्य है। अगर युद्ध या हिंसा से मिलती है तो आज ही मै अपने सघर्ष को त्यागने के लिए तैयार हू। ऐसी स्वतंत्रता मुझे नही चाहिए। मै आजादी चाहता हू अहिसा के द्वारा, चाहे वह सौ वर्ष बाद ही मिले।' मार्क्स और केनिज का साधनशुद्धि पर इतना अटल विश्वास नही था। क्योकि ये दोनो आध्यात्मिक नही, आर्थिक व्यक्तित्व थे।

केनिज के विचार

मार्क्स ने साधनशुद्धि के विचार को गौण कर दिया। केनिज ने कहा —' अभी हमे सपन्नता का विकास करना है, इसलिए अभी हमारे लिए अहिंसा, नैतिक मूल्य आदि का विचार करने का अवकाश नही है।' उन्होने कहा — 'अर्थशास्त्र ही विज्ञान है।' इस विज्ञान के सदर्भ नैतिकता अनैतिकता का उनके सामने कोई प्रश्न नही था। इन पर विचार करना एथिक्स का काम है, नीतिशास्त्र का काम है। नीतशास्त्र के विषय को अर्थशास्त्र का विषय नही बनाया जाना चाहिए। इसलिए वे नैतिकता, अहिंसा, साधनशुद्धि, चरित्र आदि किसी भी विषय को महत्व देने के लिए तैयार नही हुए।

प्रयोजन

पांचवा पेरामीटर है प्रयोजन। सामने कोई प्रयोजन होना चाहिए। महावीर ने

एक प्रयोजन का प्रतिपादन किया-अव्याबाध सुख — हमें ऐसा काम करना है, जिसके पीछे कोई बाधा न हो, कोई दु.ख न हो। एक दुःखानुगत सुख है और एक केवल सुख। एक सुख होता है, जिसके पीछे-पीछे दुःख चलता है जैसे दिन के पीछे रात चलती है । वह दुःखानुगत सुख होता है। वह अव्यावाध सुख नही होता, सावाध सुख होता है। महावीर ने कहा, ऐसा सुख पाया जा सकता है, जिसके पीछे कोई वाधा नही है, जो शाश्वत है। उस सुख को पाना हमारा प्रयोजन है।

गांधी का एक स्थूल लक्ष्य था — स्वराज या स्वतंत्रता की प्राप्ति । यह राजनीतिक लक्ष्य था, किन्तु मूल लक्ष्य नही था ।उनका मूल लक्ष्य था— ईश्वरीय साक्षात्कार या सत्य को पाना, सत्य तक पहुंच जाना।

मार्क्स और केनिज का लक्ष्य

मार्क्स और केनिज—इन दोनो का एक लक्ष्य रहा सुख–संतुष्टि। समाज को सुख या सेटिस्फेक्शन मिले। इतना अर्थ हो जाये कि गरीवी मिट जाये, सुख मिले। किन्तु सुख के पीछे जो आ रहा है, उस पर विचार नहीं किया। भूखे को रोटी मिली, सुख मिला, किसी नंगे को कपड़ा मिला, सुख मिला। खुले आसमान के नीचे सोने वाले को छत मिली तो सुख मिला, किसी बीमार को दवा मिली, सुख मिला। जहा आर्थिक प्रयोजन हो, वहां इससे आगे जाया नही जा सकता। अगर अध्यात्म का दर्शन उनके सामने होता तो सुख की कल्पना कुछ दूसरी होती। किन्तु आर्थिक जगत् मे यही चरम सीमा है। अर्थशास्त्र की सीमा को पार कर वे थोड़ा और गहरे चिंतन में जाते तो शायद उनकी सुख की धारणा भी बदल जाती।

सुविधा और सुख

एक भ्रान्ति पैदा हो गई — सुख और सुविधा को हमने एक मान लिया। इस भ्रान्ति को न मार्क्स तोड़ सके, न केनिज तोड़ सके। अगर उनका चिंतन यह होता–हम अपनी अर्थशास्त्रीय अवधारणाओ और अर्थव्यवस्था के विकास के द्वारा मनुष्य को सुविधा उपलव्ध करा सकते है, सुख के लिए उन्हे और आगे खोज करनी है तो आज की स्थिति कुछ दूसरी होती। न इतनी हिंसा होती, न इतने अपराध होते, न इतनी मानसिक विक्षिप्तता होती। उन्होने सुविधा और सुख को एक ही मान लिया। जिसको रोटी नही मिलती थी, उसे रोटी मिली तो सुविधा हो गयी, किन्तु उसे सुख भी मिला, यह कहना कठिन हैं क्योकि सुख सवेदन के साथ जुड़ा होता है और रोटी भूख के साथ जुड़ी होती है। भूख मिट गयी तो समझे एक व्यथा मिट गयी, किन्तु सुख हुआ,

यह तो नही कहा जा सकता। एक करोड़पति या अरबपति आदमी रोटी खा रहा है और साथ मे दुःख भी भोग रहा है। दुःख भी खा रहा है वह रोटी के साथ। रोटी खाते समय फोन आ गया । अमुख स्थान पर इतना घाटा हो रहा है, दुर्घटना मे इतना नुकसान हो गया है , बस यह सुनते ही वह दुःखी बन जायेगा। रोटी सुख का साधन होती तो वह दुःखी नही बनता। हम यह मान कर चले — रोटी भूख शान्त करने का साधन है, सुख का साधन नही। मार्क्स और केनिज अगर इस चिंतन मे स्पष्ट होते तो सचमुच आज स्थिति भिन्न होती।

संबंध सुख दुःख का

एक बहुत संपन्न व्यक्ति होटल मे बैठा था। लड़का दौड़ता हुआ आया। उसने कहा–पिताजी !अपनी सबसे बडी बिल्डिग मे आग लग गयी, मकान सहित सब कुछ जल कर राख हो गया। यह सुन कर वह दुःख मे डूब गया। इतने मे ही दूसरा लड़का आया और बोला–मकान जल गया, किन्तु सतोष की बात यह है कि उस मकान को पहले ही बेच दिया था। उसकी पूरी कीमत हमे प्राप्त हो गयी थी। तत्काल ही उसका सारा दुःख काफूर हो गया।

सुख-दुःख किसके साथ जुड़े है ? सवेदन के साथ जुड़े है। मकान जल रहा है या बच रहा है, इसके कोई मायने नही है। पदार्थ गौण है, मुख्य है हमारा संवेदन। महावीर ने सुख और सुविधा — दोनो को अलग बताया । सुख अलग है, सुविधा अलग है। उन्होने कहा–जिसे सुख मानते हो, वह भी क्षणिक है । क्षणमात्र सुख मिला, किन्तु परिणाम काल मे वह लम्बा दुःख हो सकता है।

स्वतंत्रता का प्रश्न

हम एक बात पर और विचार करे। स्वतत्रता और सुख — ये दोनो चिरकालीन अभिप्रेत रहे है। मनुष्य चाहता रहा है— स्वतंत्र रहू और सुखी रहूं। जहां महावीर और गाधी का प्रश्न है, वहां नितान्त स्वतंत्रता का प्रश्न है। व्यक्ति-स्वतंत्रता सर्वप्रथम मान्य है। जहां व्यक्ति की स्वतंत्रता बाधित हो, वह स्थिति न महावीर को मान्य है, न गाधी को। मार्क्स ने भी इस अर्थ मे कम दौड़ नही लगाई। उन्होने भी एक सपना देखा और वह बहुत महत्वपूर्ण है। 'स्टेटलेस सोसायटी' राज्यविहीन समाज— यह कितना बड़ा स्वप्न है। ऐसी स्वतंत्रता, जहां कोई शासन ही नही है।

केनिज ऐसा सपना नही देख सके। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे स्वतंत्रता तो मान्य है किन्तु वे स्टेटलेस सोसायटी की कल्पना और उसका प्रतिपादन नही कर सके।

मार्क्स ने ऐसा किया किन्तु जहा केन्द्रित अर्थव्यवस्था होती है, वहा राज्यविहीन शासन का सपना कैसे लिया जा सकता है ? वहा तो हिंसा और दण्ड का सहारा लेना ही होगा । वहां तानाशाही पनप सकती है, स्वतंत्रता की बात नही हो सकती ।

लेनिन ने मार्क्स के सपने को साकार करने का प्रयत्न किया किन्तु स्टालिन के हाथ मे जैसे ही सत्ता आयी, तानाशाही का रूप इतना विकराल हो गया, स्वतत्रता के लिए अवकाश ही नही रहा । सारी स्थिति बदल गयी, मार्क्स का वह सपना अधूरा ही रह गया ।

पदार्थ और स्वतंत्रता

स्वतत्रता पदार्थ के साथ नही जुड सकती । जहा-जहा पदार्थ का विकास होता है, वहां वहां आदमी परतत्र बन जाता है । पहले पदार्थ किसी व्यक्ति का गुलाम बनता है, फिर व्यक्ति पदार्थ का गुलाम बन जाता है । जैसे कहा जाता है — पहले आदमी शराब पीता है, फिर शराब आदमी को पीने लग जाती है । ठीक वैसे ही यह कहा जा सकता है—पहलें आदमी पदार्थ को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करता है, फिर पदार्थ उसको अपने अधीन बना लेता है । इतना अधीन बना लेता है कि व्यक्ति मरते दम तक पदार्थ को छोड़ नही सकता ।

एक व्यक्ति मृत्युशय्या पर था, अतिम सांसे गिन रहा था । सारी प्राणशक्ति को जुटा कर बड़े लड़के को पुकारा । बड़ा लड़का बोला — पिताजी ! मै यही बैठा हू । फिर क्रमश. दूसरे, तीसरे और चौथे का नाम पुकारा । सबने कहा — पिताजी ! हम यही है । उसने झल्लाकर कहा — मूर्खों ! सबके सब यही हो तो दुकान पर कौन है ?'

स्वतंत्रता की भाषा

पहले पदार्थ सामने रहता है फिर व्यक्ति पदार्थ के अधीन बन जाता है, तो स्वतंत्रता अपने आप छिन जाती है । महावीर ने स्वतंत्रता की जो परिभाषा दी, वह यह है — जितना ज्यादा इच्छा-परिमाण का विकास होगा, उतने ही तुम स्वतंत्र रह सकोगे । गांधी की भाषा भी लगभग यही है । किन्तु मार्क्स की भाषा मे एक ओर है शासनविहीन समाज, दूसरी ओर है पदार्थ का प्रचुरतम विकास । इन दोनो मे परस्पर इतना विरोध है कि दोनो बाते एक साथ नही हो सकती । केनिज का अर्थार्जन मे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सिद्धान्त भी स्थायी नही हो सकता । स्वतंत्रता के साथ परोक्ष रूप से परतंत्रता के न जाने कितने बंधन आते है । पूंजीवादी व्यवस्था मे प्रत्यक्षत: अर्थार्जन में कोई प्रतिबंध

नही है किन्तु प्रकारान्तर से कितने प्रतिबध लग जाते है, यह अपहरण और चोरी करने वाले जानते है। आज तो इसके इतने तरीके विकसित हो गए है कि एक व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन मे हिस्सेदारी कैसे बंटाई जाए? इस भाषा मे सोचा जाता है—यह सविभाग करना नही जानता है तो हम संविभाग करना जानते है। इस अर्थ मे सोचे तो परतत्रता की बात बहुत सापेक्ष बन जाती है, स्वतत्रता और परतत्रता का बिन्दु बहुत चिन्तीय बन जाता है।

नए आयाम खुले

इन सारे मापदडो से हम महावीर, गांधी, मार्क्स और केनिज़ की चिंतनधारा को, इनकी प्रकति को समझने का थोड़ा सा प्रयत्न करे तो उनके द्वारा दी हुई व्यवस्था को हम समझ सकेगे। महावीर प्रत्यक्षतः कोई अर्थशास्त्री नही थे। वे तो अपरिग्रही थे किन्तु उनके अपरिग्रह मे से अर्थशास्त्र के तमाम सूत्र फलित होते है। गांधी भी प्रत्यक्षतः एक साधक थे। उन्होने राजनीति का माध्यम लिया इसलिए अर्थव्यवस्था का भी कुछ प्रतिपादन किया। मार्क्स और केनिज—ये दोनो विशुद्ध अर्थशास्त्रीय व्यक्तित्व थे, इसलिए अर्थशास्त्र को समझने के लिए इन दोनो को समझना होगा किन्तु केवल अर्थशास्त्र को समझ कर हम समाज को अच्छा नही बना सकते। कोरा अर्थ बढ़ा कर समाज को स्वस्थ और सतुलित नही रख सकते। महावीर और गाधी को समझे बिना मार्क्स और केनिज को समझा गया तो समाज क्री व्यवस्था अच्छी नही रहेगी। इन चारो का तुलनात्मक अध्ययन अर्थशास्त्रीय दृष्टि से बहुत आवश्यक है। यह तुलनात्मक अध्ययन हमारे सामने कुछ नए आयाम खोल सकता है।

नई अर्थनीति के पेरामीटर

अर्थशास्त्र के संदर्भ मे हमने महावीर, गांधी, मार्क्स और केनिज का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। कौन-सा विचार सत्य है और कौन-सा मिथ्या — यह प्रश्न हमारे सामने नही है। एकान्तवादियो के सामने यह प्रश्न हो सकता है कि अमुक प्रणाली सत्य है और अमुक प्रणाली मिथ्या है, किन्तु अनेकान्त मे सत्यांशो का समाहार और समन्वय होता है। अनेकान्त के अनुसार कोई भी विचार ऐसा नही है, जिसमे सत्यांश न हो और कोई भी विचार ऐसा नही है जो पूर्ण सत्य हो। जो भी विचार है, वह सत्य का एक अंश है और जो भी हमारी अभिव्यक्ति है, वह सत्यांश की एक अभिव्यक्ति है। समग्र सत्य को कहने के लिए न तो हमारे पास कोई शब्द है और न सोचने के लिए कोई मस्तिष्क। इसलिए सत्यांशो का ग्रहण, स्वीकृति और अभिव्यक्ति — यह सत्य की दिशा मे प्रस्थान का राजमार्ग बनता है।

यह मांग क्यों है?

आज नये विश्व की व्यवस्था की मांग है, नयी समाज व्यवस्था और नयी अर्थ व्यवस्था की माग है। यह मांग क्यो है? इसलिए है कि हमने सत्याश को सर्वाशत· समग्रता से सत्य मान कर व्यवहार शुरू कर दिया। आज की जो अर्थनीति है, वह मुख्यत. माइक्रो इकोनोमिक्स और मेट्रो इकोनोमिक्स — इन दो के आधार पर चल रही है। माइक्रो इकोनोमिक्स की व्यवस्था चल रही थी किन्तु केनिज ने जब से मैट्रो इकोनोमिक्स का प्रतिपादन किया, आर्थिक क्रान्ति का स्वर प्रखर हुआ, अनेक राष्ट्र उससे प्रभावित हुए। मेट्रो इकोनोमिक्स का मूल है — विशाल पैमाने पर उद्योग लगाओ, उत्पादन करो। यह सव बड़े पैमाने पर करो, जिससे आज की बढ़ती हुई आवादी की भूख को मिटाया जा सके। कोई भी नही कहेगा कि यह उद्देश्य गलत है। यही उद्देश्य सामने रखा — भूखी और पीड़ित जनता की पीड़ा को दूर किया जा सके, उसको रोटी, कपड़ा मकान मिल सके, उसकी प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। उद्योगो का जाल विछाए विना ऐसा करना संभव नही है।

स्तर इन्द्रिय चेतना का

वर्तमान मे इन दो अर्थनीतियो के प्रति बहुत आकर्षण है। न गांधी की अर्थनीति के प्रति इतना आकर्षण है और न दूसरी किसी अर्थनीति के प्रति इतना आकर्षण है। आज आकर्षण है केवल इन दो प्रणालियो के प्रति और उसमे भी उस राष्ट्रीय नीति के प्रति, जो मेट्रो अर्थनीति के आधार पर चल रही है। राष्ट्र अपने संसाधनो को इतना बढ़ाए, जिससे सब सम्पन्न बन जाएं और संसाधनो का प्रचुरतम उपयोग किया जा सके। इसके प्रति आकर्षण है। वर्तमान समाज की चेतना इन्द्रिय स्तर की चेतना है। इन्द्रिय स्तर की चेतना का आर्थिक प्रचुरता मे आकर्षण होना स्वाभाविक है। इसलिए इन प्रणालियो ने जनता को, राष्ट्रो को बहुत आकर्षित किया है।

त्रुटि है अर्थ व्यवस्था में

प्रश्न है फिर नई अर्थव्यवस्था की मांग क्यो ? हर मांग के पीछे कोई कारण होता है। निष्प्रयोजन कोई मांग पैदा नही होती। इसका प्रश्न उत्तर सीधा है। हिसा बहुत बढ़ी है। तनाब बढ़ा है, मानसिक अशाति बढ़ी है और विश्व शान्ति के लिए भी खतरा बढ़ा है। आदमी खतरे मे ही जी रहा है। वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन मे समस्याएं बढ़ी है। हत्या, आत्महत्या, तलाक आदि-आदि अब आम बात हो गए है। ऐसी स्थिति मे आदमी को सोचने के लिए विवश होना पड़ रहा है — कही न कही हमारी आर्थिक नीति मे, अर्थव्यवस्था मे कोई त्रुटि अवश्य है, जिससे यह पौध विकसित हो रही है। मुड़ कर देखने का एक अवसर मिला है। स्वर उठ रहा है — अब एक अर्थव्यवस्था लागू होनी चाहिए। अब मेट्रो से भी काम नही चेलगा, एक ग्लोबल इकोनामी या जागतिक अर्थव्यवस्था होनी चाहिए, वैश्विक अर्थनीति होनी चाहिए। अगर पर्यावरण की समस्या सामने नही आती तो ग्लोबल इकोनामी की बात भी नही उभरती। विकसित राष्ट्रो ने संसाधनो पर बहुत कब्जा किया। बड़े-बड़े उद्योग स्थापित किये और इतना प्रदूषण पैदा किया कि पर्यावरण के लिए खतरा पैदा हो गया। जगलो की कटाई और धरती का अतिशय दोहन हुआ, प्रकृति का सारा सतुलन ही गड़बड़ा गया। इस बात पर अब ध्यान गया है कि शक्तिशाली राष्ट्र दूसरो के लिए कल्याणकारी कम बन रहे है, खतरा ज्यादा बन रहे है। वे शोषण करने मे लगे हुए हैं। सहायता कम करते है, शोषण अधिक करते है। आर्थिक साम्राज्य खडा करने और उसे मजबूत बनाने की होड़ लगी हुई है।

गुलामी की स्थिति

प्रभुसत्ता स्थापित करना पुराने जमाने शगल था। उस समय युद्ध के द्वारा सत्ता का विस्तार होता था और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का पोषण होता था। अब वह बात नही रही। आज प्रभुसत्ता उसकी है, जिसका बाजार पर अधिकार है। विकसित राष्ट्रों मे यह होड़ लगी हुई है कि कौन सारी दुनिया पर अपना एकाधिकार जमा पाता है। विकसित राष्ट्रो की इस अधाधुंध दौड़ से छोटे और अविकसित राष्ट्र भयभीत हैं। उनका शोषण भी हो रहा है और उनके अधिकारो का सीमाकरण भी हो रहा है। विकसित राष्ट्रो का अधिकार व्यापक बन रहा है और छोटे राष्ट्रो का अधिकार सीमित हो रहा है। वे एक प्रकार से निरन्तर उनके कब्जे मे आते जा रहे है। स्वतन्त्रता का भौगोलिक और राजनीतिक अपहरण हुए बिना ही वे गुलाम बनते जा रहे है।

स्वाभाविक सोच

इस सारी समस्या के सन्दर्भ मे यह सोच स्वाभाविक थी कि कोई जागतिक अर्थव्यवस्था होनी चाहिए, जिससे शक्तिशाली राष्ट्र छोटे राष्ट्रो का शोषण न कर सकें, उनकी स्वतन्त्रता को छीन न सके उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित न कर सके और पर्यावरण को प्रदूषित भी न करे। इस समस्या ने एक नया प्रश्न उपस्थित कर दिया। आज का आदमी सोचने के लिए विवश है। पश्चिम के अनेक विचारक इस बारे मे बहुत चिंतन कर रहे है।' 'टु हैव, टु बी ' के लेखक ने इस बारे मे बहुत चितन किया। 'थर्डवेव, द' न्यू आनर्स' 'अर्थ इन बेलेस' आदि आदि के लेखक इस बात से चिन्तित हैं कि अगर जागतिक अर्थनीति का विकास नही किया गया तो भविष्य की भयावह स्थिति की कल्पना भी नही की जा सकती। साम्यवादी अर्थव्यवस्था लड़खड़ा गयी, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था लड़खड़ाने की स्थिति मे है। केनिज ने जो बात कही, वह अच्छी लगी किन्तु उसमे इस तथ्य पर विचार नही किया गया—ससाधन तो सीमित हैं, उनका असीम उपयोग कैसे होगा ? यदि संसाधन असीम होते, रा मैटेरियल असीम होता तो शायद उद्योग वड़े पैमाने पर चल सकते थे। संसाधनो की सीमा है, इसलिए यह संभव नही है। यही कारण है कि पूजीवाद भी अव लड़खड़ा रहा है और नयी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा सामने आ रही है। समस्या यह है — आज यदि हम केवल ग्राम व्यवस्था, ग्रामोद्योग जैसी प्रणालियो पर चले, ऐसा संभव नही लगता। केनिज ने ठीक ही कहा था — 'अव इतना आगे वढ़ गए हैं कि पीछे लौटना संभव नहीं है और जिस प्रकार आवादी वढ़ रही है, उसमे तो विल्कुल ही संभव नही लगता। आज

तो अनेकान्त की दृष्टि से कुछ सत्यांश मिल जाएं, इस दिशा मे सोचें और यह देखे—उनका समन्वय कैसे हो ? हम कैसे एक मंच पर महावीर, गांधी, मार्क्स और केनिज को ला सके ? इस दिशा मे नया सोच और नया चितन आवश्यक लगता है।

केन्द्रीकरण : विकेन्द्रीकरण

केन्द्रीकरण आज की अर्थनीति का मुख्य आधार है। यदि हम महावीर और गाधी को उस मंच पर लाएं तो एक समन्वय करना होगा कि केन्द्रीकरण के साथ विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था भी चले।

केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण— दोनो का योग होगा तभी बात बनेगी। कोरे केन्द्रीकरण ने बेरोजगारी को बहुत बढ़ावा दिया है, समस्याए पैदा की है। केन्द्रीकरण के साथ विकेन्द्रीकरण भी हो ा चाहिए। यदि ऐसा होता है तो उसमे महावीर भी खड़े है, गाधी भी खडे है। केन्द्रीकरण को भी सर्वथा मिटाया नही जा सकता। उसका भी एक सतुलित उपयोग आवश्यक है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका

आज ससाधनो पर नियत्रण अपने-अपने राष्ट्र का है। अगर पैट्रोल अरब देशो के पास है तो उस पर उनका नियत्रण है। अगर बहुत सारे खनिज अमेरिका मे है, तो उन पर उसका नियत्रण है। सयुक्त राष्ट्रसघ की अब तक जो भूमिका रही है, वह केवल एक शाति और सामंजस्य बिठाने की भूमिका रही है। अगर सयुक्त राष्ट्र सघ जैसी सस्था को जागतिक अर्थनीति की भूमिका निभाने के लिए प्रोत्साहित किया जाये और वह इस स्थिति मे आए कि अर्थनीति का निर्धारण कर सके और ससाधनो पर नियत्रण कर सके तो वर्तमान की समस्या का कोई समाधान मिल सकता है।

वैश्विक अर्थनीति के सूत्र

एरिक्सोन ने वर्तमान की व्यवस्था को ठीक करने के लिए, उसमे परिवर्तन लाने के लिए कुछ सूत्र सुझाए है, जो वैश्विक अर्थनीति के लिए बडे उपयोगी बन सकते है। उनका एक सूत्र है—क्रोध, लोभ, घृणा और मोह को कम किया जाये। यह बात आध्यात्मिक और उपदेशात्मक बात जैसी लगती है किन्तु इतनी छोटी बात नही है। इसमे एक बहुत बड़े सत्य का उद्‌घाटन है। संतुलित अर्थव्यवस्था इन आवेगो को सतुलित किये बिना कभी सभव नही बनेगी। लोभ का सवेग या इमोशन प्रवल है, तो कोई भी अर्थव्यवस्था सतुलित बन नही सकती, चाहे कितनी ही नीतिया क्यो न

निर्धारित कर ली जाएं। घृणा, हीन भावना आदि का संवेग प्रखर है तो कोई भी अर्थनीति कारगर नही हो सकती।

संवेग की समस्या

भगवान महावीर ने जिन सत्यो का प्रतिपादन किया, उनमे से एक सत्य यह है —जिस समय मनुष्य जाति मे क्रोध, अहंकार, माया, छलना और लोभ—ये शान्त होते है, समाज व्यवस्था अच्छी चलती है, अर्थव्यवस्था और राज्य व्यवस्था अच्छी चलती है। जब ये संवेग प्रबल बन जाते है तब सारी व्यवस्थाएं विश्रृंखलित हो जाती है। एक व्यक्ति, जिसके हाथ मे सत्ता है, का संवेग प्रबल बन जाए तो हर कोई हिटलर बन सकता है, स्टालिन बन सकता है और अपने साम्राज्य विस्तार के लिए भयकर से भयकर संहारक शस्त्रो का प्रयोग कर सकता है। इसलिए यदि हम संतुलित अर्थ व्यवस्था और जागतिक अर्थ व्यवस्था की बात करते है तो हमे दोनो आयामो पर चलना होगा— बाहर से व्यवस्था का समीकरण और भीतर से संवेगो का समीकरण या सतुलन। हम केवल बाह्य व्यवस्था को ठीक करना चाहे और भीतर के सवेग हमारे प्रबल रहे तो यह कभी संभव नही है। आज एक व्यवस्था बनेगी, पांच-दस वर्ष बाद कोई शक्तिशाली व्यक्ति आयेगा तो उसे ध्वस्त कर देगा।

भीतर से भी बदलें

मार्क्स और केनिज ने जिस अर्थव्यवस्था के परिवर्तन पर ध्यान दिया, वह केवल संसाधन, उत्पादन और विनिमय की व्यवस्था थी। व्यक्ति को बदलने की व्यवस्था पर ध्यान नही दिया इसीलिए मार्क्स की व्यवस्था का परिणाम यह आया — अधिनायकवादी व्यवस्था ने सारी व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। केनिज की व्यवस्था का परिणाम यह आ रहा है — उत्पादन शाति के लिए, भूख मिटाने के लिए कम हो रहा है, संहार के लिए अधिक हो रहा है। यदि संहार मे इतनी शक्ति नही लगती तो आज गरीबी और बेरोजगारी की समस्या जटिल नही रहती। किन्तु यह कैसे सभव है? जब मनुष्य के भीतर भय और लोभ का संवेग है, प्रभुत्व के विस्तार और घृणा का संवेग है, अपने को ऊचा और दूसरो को हीन मानने का संवेग है, तब वह भूख मिटाने की चिन्ता क्यो करेगा? उसकी चिन्ता होगी शक्ति के निर्माण की। जहां शक्ति का निर्माण होगा, वहा शस्त्र निर्माण एक अनिवार्य शर्त है।

भयंकर भूल

यदि हम नयी अर्थ व्यवस्था के बारे मे सोचे तो इस भूल का परिष्कार करे, जो

अतीत मे हमसे होती रही है और वह है पदार्थ व्यवस्था और बाह्य व्यवस्था पर सारा ध्यान केन्द्रित करना। आन्तरिक व्यवस्था पर हमारा कभी ध्यान ही नही गया। जब तक मनुष्य भीतर से नही बदलेगा, केवल व्यवस्था मे बदलाव से क्या होगा? व्यक्ति कितनी ही अच्छी मोटर या कार बना ले। ड्राइवर कुशल नही है तो वह विश्वसनीय नही होगी, उससे खतरा बना रहेगा।

हम जिस दुनिया मे जी रहे है, वहां हमारी सारी प्रवृत्ति, सारा व्यवहार द्वन्द्व से शुरू होता है। जहां द्वन्द्वात्मक स्थिति है, वहा कोई अकेला काम नही कर सकता। न अकेला भीतर का काम कर सकता है, न अकेला बाहर का काम कर सकता है। भीतर की स्थिति बदले और बाहर की स्थिति भी बदले। वर्तमान की अर्थव्यवस्था को बदलने और नयी अर्थ व्यवस्था के निर्माण की हमारी कोई मनोवृत्ति है तो इस भूल का परिष्कार करना होगा। मेरी दृष्टि मे यह भयकर भूल है और इसका परिष्कार किये बिना कुछ भी नही होगा।

कुछ मानदण्ड

नयी अर्थ व्यवस्था के प्रवर्तन के लिए हमे कुछ पेरामीटर भी सामने रखने होगे। नई अर्थव्यवस्था वह हो, जो

- ❑ विश्व शान्ति के लिए खतरा न बने
- ❑ अपराध मे कभी लाए।
- ❑ हिसा को प्रोत्साहन न दे।
- ❑ पदार्थ मे अत्राण की अनुभूति जगाए।

पहली शर्त

प्रथम शर्त है कि ऐसी अर्थव्यवस्था हो, जो विश्व शान्ति के लिए खतरा न बने। अकेला जो भी बढ़ना चाहे, वह व्यक्ति हो, समाज या राष्ट्र, खतरा पैदा होगा। इस सदर्भ मे महावीर का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—

जे लोयं अब्भाइक्खई से अत्ताणं अब्भाइक्खई।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खई से लोयं अब्भाइक्खई।

'जो लोक का, जगत् का अस्वीकार करता है, वह अपने अस्तित्व अस्वीकार करता है और जो अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह जगत् के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, महावीर ने कहा—'जगत् के अस्तित्व को अस्वीकार मत करो

और अपने अस्तित्व को भी अस्वीकार मत करो। पर्यावरण का यह सबसे बडा सूत्र है — तुम अकेले नही हो। तुम अपने अकेले के लिए कुछ करो तो सोचो कि मेरे इस कार्य का, मेरे इस व्यवहार का पूरे विश्व पर क्या प्रभाव पड़ेगा? प्रश्न हो सकता है—एक छोटा आदमी क्या सोचे? उसके किसी किये का दुनिया पर क्या प्रभाव पडेगा? किन्तु यह हमारी भूल है।'

भिन्न भी, अभिन्न भी

महावीर ने अनेकान्त की दृष्टि से कहा — एक अंगुली हिलती है तो उससे सारा विश्व प्रकपित होता है, अंगुली के परमाणुओ से जुडे हुए समस्त परमाणु प्रभावित होते है। पूरी श्रृंखला जुडी है। जैन आचार्यों ने बतलाया कि कपडे का एक तार अलग करो, उससे नि सृत एक परमाणु समुद्र मे जाकर सारे समुद्र को प्रकंपित करेगा, तालाव मे जाकर सारे तालाब को प्रकंपित करेगा। हम अकेले नही है, सारे ससार से जुड़े हुए है। इसीलिए अनेकान्त का सूत्र बना—न एकान्तत· भिन्न और न एकान्तत अभिन्न, किन्तु भिन्नाभिन्न। एक व्यक्ति इस लोक से सर्वथा भिन्न नही है और सर्वथा अभिन्न भी नही है। पूरे विश्व के साथ हमारा अस्तित्व जुड़ा हुआ है, इसलिए एक व्यक्ति सर्वथा भिन्न नही है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, इसलिए सर्वथा अभिन्न नही है। वह भिन्न भी है और अभिन्न भी है। जब वह अभिन्न है तब उसका प्रभाव पूरे विश्व पर कैसे नही होगा? इसीलिए कहा गया—जो लोक का अभ्याख्यान करता है, वह अपना अभ्याख्यान करता है और जो अपना अभ्याख्यान करता है, वह पूरे लोक का अभ्याख्यान करता है।

व्यक्ति और विश्व

हम व्यक्ति और लोक — दोनो के सदर्भ मे चिन्तन करे। हमारा कोई भी चिंतन विश्व को छोड़कर केवल व्यक्ति के संदर्भ मे न हो और व्यक्ति को छोडकर केवल विश्व के सदर्भ मे न हो। व्यक्ति और विश्व—दोनो के संदर्भ मे हमारा चिन्तन, विचार और नीति का निर्धारण हो। ग्लोवल इकोनामी की नीत्ि का निर्धारण करे तो हमे सवसे पहले इस वात का ध्यान रखना होगा — यह अर्थनीति विश्व शान्ति के लिए खतरा न वने, व्यक्ति की शांति को खतरा न वने। जो व्यक्ति की शाति को खतरा वनेगी, उसे खण्डित करेगी, वह विश्व शान्ति को खडित करेगी। जो विश्व की शान्ति को खण्डित करेगी, वह व्यक्ति की शाति को खंडित करेगी। व्यक्ति और विश्व दोनो की शांति के लिए खतरा न वने, यह नई अर्थनीति का पहला पेरामीटर है।

हिंसा को प्रोत्साहन न मिले

दूसरा पेरामीटर है— अर्थनीति हिसा और हत्या को प्रोत्साहन न दे। हिसा जीवन के साथ जुड़ी हुई है। प्राचीन आचार्यो ने कहा—'जीवो जीवस्य जीवनम्' जीव जीव का जीवन है। यह भी सत्यांश है। इसको भी समग्रता से घटित करेगे तो सही नही होगा। किन्तु इसमे कोई मतभेद नही है कि जीवन-निर्वाह के लिए हिसा अनिवार्य है। हिंसा को सर्वथा तो नही छोड़ सकते इसीलिए महावीर ने एक विशेषण जोड़ दिया — अनावश्यक हिंसा न हो, आक्राभक हिंसा न हो। वह अर्थनीति बने, जो अनावश्यक और आक्रामक हिंसा को प्रोत्साहन न दे। मनुष्य की ही नही, जल की भी अनावश्यक हिंसा न हो, उसका भी अपव्यय न हो, वनस्पति जगत् की भी अनावश्यक हिसा न हो। छोटे से छोटे प्राणी की भी अनावश्यक हिसा न हो। यह बहुत अपेक्षित है।

श्रेष्ठ भी, गलत भी

आज विचार के क्षेत्र मे एक भ्रान्ति काम कर रही है। महाभारत मे वेदव्यास ने ा है—'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।' मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नही है। महावीर ो कहा—'माणुसस्य हें विग्गहे खलु दुल्लहे ।' किन्तु जहां यह कहना ठीक है मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नही है, वहा यह भी कह सकते है — मनुष्य से गलत भी नही है। दोनो को मिलाएं तो समग्र सत्य बनेगा। मनुष्य से श्रेष्ठ और कोई नही ह कहने का अर्थ था — विकास की दृष्टि से मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नही है। हमने ध्यान के सदर्भ मे इसकी व्याख्या इस प्रकार की—'मनुष्य का नाड़ीतंत्र, ग्राथितन्त्र विकसित है, उसका रीजनिंग माइंड इतना सक्रिय है, उसकी विवेक चेतना इतनी ा है कि उससे श्रेष्ठ और कोई प्राणी नही है। यह एक सत्यांश है। इस आधार । मान लिया गया कि मनुष्य के लिए सब कुछ खाद्य है। वह किसी पशु को मारे क्षी को। मांस भक्षण हेतु आज करोड़ो पशु-पक्षियो की वह निर्मम हत्या कर रहा न्या फिर भी वह श्रेष्ठ प्राणी है? श्रेष्ठता का यह जो दुरुपयोग हुआ है और इस । ने मनुष्य को जितना भटकाया है, जितना निरकुश बनाया है, शायद उतना वह नही रहा। ऐसा लगता है कि वे मूक पशुओ की हत्याएं उससे इसका प्रतिशोध रही है। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से मनुष्य निरन्तर अस्वस्थ होता चला ा है। वहुत कुछ साधनो को पाकर भी वह निराश्रय और शरणविहीन होता चला ा है, हीन-दीन बनता चला जा रहा है।

पदार्थ शरण नहीं है

एरिक्ट्रोन ने एक सूत्र सुझाया, जिसे मै महावीर के सूत्र का अनुवाद मानता हू और वह यह है—नयी अर्थनीति मे यह भावना जागृत करनी चाहिए — पदार्थ हमारे लिए त्राण नही है। एक अनुप्रेक्षा है अशरण अनुप्रेक्षा। कोई भी पदार्थ हमारे लिए शरण नही है। व्यवहार मे तो वह शरण बनता है, किन्तु मूलत: कोई भी पदार्थ अंतिम शरण नही है। ठीक इसी भाषा मे एरिक्ट्रोन ने कहा—पदार्थ कोई त्राण नही है, इस भावना का विकास करना चाहिए। जब अनित्य अशरण आदि-आदि अनुप्रेक्षाओ का विकास होगा तब हमारा आन्तरिक परिवर्तन होगा, सवेगो पर नियत्रण करने की हमारी क्षमता बढ़ेगी। इससे अनुस्यूत जागतिक अर्थनीति का निर्धारण होगा तो राष्ट्रीय अहं और प्रभुसत्ता का अहं कम होगा, उसका संतुलन बनेगा।

अपराध में कमी लाए

नई अर्थनीति का एक पेरामीटर यह होना चाहिए—अर्थ व्यवस्था अपराध मे कमी लाए। यह नही माना जा सकता—आज जो अपराध बढ़ रहे है, वे अहेतुक है। आज की आर्थिक अवधारणा ने व्यक्ति मे इतनी लालसा पैदा कर दी कि इतना विकास होना चाहिए। एक आधुनिक व्यक्ति, अपने जीवन का एक स्टैण्डर्ड बनाता है, आधुनिक कहलाता है। इस 'स्टैण्डर्ड आफ लिविग' के साधन जिन्हे सुलभ है, वे बडे अपराधो मे जाते है, छोटे मे नही। वे शोषण और व्यावसायिक अपराध करते है या राजनीतिक अपराध करते है किन्तु जो गरीब आदमी है, जिन्हे जीवन के साधन उपलब्ध नही है, वे छोटे अपराध मे जाते है।

व्यवस्था का दोष

दो विद्यार्थी साथ मे पढ़े। एक के घर मे सारे आधुनिक साधन है—रेडियो, टी॰ वी॰, फ्रिज आदि। दूसरे विद्यार्थी को साइकिल जैसा मामूली साधन भी उपलब्ध नही है। साधनहीन विद्यार्थी के मन मे सम्पन्न को देखकर यह भावना जागती है — हम गरीब है। फिर उसके मन मे येन-केन प्रकारेण उन साधनो को प्राप्त करने की भावना जागती है। यह एक मनोवृत्ति इसलिए पनपी है कि साधन शुद्धि और नैतिक मूल्यो पर अर्थनीति मे कोई विचार नहीं हुआ। यह व्यवस्था का दोष मानते है। अपराध बढ़ा है, इसमे व्यक्ति का कोई दोष नही है। अगर केवल मध्यम वर्ग होता

तो शायद इतने अपराध न होते ।

आज ये तीन वर्ग बने हुए है—उच्च, मध्यम और निम्न । इससे अपराध और हिंसा को प्रोत्साहन मिला है । गरीबी की रेखा के नीचे जीवन जीने वाले वर्ग के मन मे आकाक्षा जाग गयी, किन्तु प्राप्ति के साधनो से वह वंचित रहा । ऐसी स्थिति मे नैतिकता, प्रामाणिकता, अध्यात्म — ये सब उसके लिए बेकार की बाते साबित होती हैं, इन्हे वह मात्र ढकोसला मानने लगता है । इन्हे वह बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपने स्वार्थ के लिए बनाई गई ढाल मानता है । सबको अस्वीकार करके वह अपराध की दुनिया मे प्रवेश कर लेता है । यह अर्थ व्यवस्था के साथ पनपने वाली मनोवृत्ति है । यदि हमने व्यवस्था के साथ समाज की मनोवृत्ति पर ध्यान नही दिया तो पूरा आर्थिक विकास हो जाने पर भी समाधान नही होगा ।

दोनों स्वर सुनाई दें

अर्थव्यवस्था ऐसी हो, जिसमे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषण न कर सके और किसी पर अपनी व्यावसायिक या वैचारिक प्रभुसत्ता स्थापित न कर सके । अगर इस प्रकार की अर्थव्यवस्था बनती है तो आज की माग को कुछ समाधान मिलेगा । यह नही कहा जा सकता कि कोई व्यवस्था शाश्वत बन जायेगी । शाश्वत तो कुछ है ही नही किन्तु जो मनुष्यकृत है, उसे अवश्य समाधान मिल सकता है यदि हम इन व्यवस्थाओ को समन्वित कर सके महावीर, गांधी, मार्क्स और केनिज को मिला सके । जहां केनिज कहते है—खूब विकास करो, खूब उत्पादन करो, संसाधनो का विकास करो वहा महावीर का यह स्वर भी सुनाई दे—**'कयाणं अहं अप्प वा बहुं वा परिग्गहं परिच्चिइस्सामि'** वह दिन धन्य होगा, जब मैं अल्प या बहु परिग्रह का परित्याग करूंगा । एक ओर परिग्रह के परित्याग की भावना, विसर्जन की भावना है, दूसरी ओर अर्जन की भावना है । ये दोनो स्वर दाये बाए सुनाई देगे, तो हमारी नयी अर्थ व्यवस्था नया समाधान देने वाली होगी, कार्यकर बनेगी, सार्थक बनेगी । जहां मात्र एक ही स्वर सुनाई देगा, वहा समाधान नही मिलेगा । इसलिए हम दोनो सत्यांशो को मिलाएं, दोनो एक साथ हमारे कानो में बराबर गूंजते रहें तो न संपदा के साथ उन्माद बढ़ेगा और न गरीवी-भूखमरी रहेगी । एक नयी व्यवस्था मे आदमी सुख की सास ले सकेगा ।

धर्म से आजीविका : इच्छा परिमाण

भगवान् महावीर ने कहा—'इच्छा आकाश के समान अनन्त है ।' यह धार्मिक दृष्टि से जितना सत्य है उतना ही अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सत्य है । अर्थशास्त्र के अनुसार मांग से आवश्यकता का क्षेत्र बड़ा होता है । आवश्यकता मनुष्य की उस इच्छा को कहते है, जिसको पूरा करने के लिए उसके पास पर्याप्त धन हो और साथ ही वह मनुष्य उस धन को खर्च करने के लिये तैयार भी हो । मांग उस आवश्यकता को कहते है, जिसकी संतुष्टि की जा चुकी है । इच्छा का क्षेत्र आवश्यकता से भी बडा होता है। सभी इच्छाएं आवश्यकताएं नही हो सकती, जब कि सभी आवश्यकताएं इच्छाए अवश्य होती है । इच्छा से आवश्यकता का क्षेत्र संकुचित और मांग का क्षेत्र उससे भी संकुचित होता है ।



इच्छा नैसर्गिक होती है । आवश्यकताएं भौगोलिक परिस्थिति, सामाजिक रीति-रिवाज, शारीरिक अपेक्षा, परिस्थिति और धार्मिक भावना के द्वारा निर्धारित होती हैं।

आर्थिक परिस्थिति द्वारा आवश्यकता का निर्धारण

गरीब व्यक्ति की आवश्यकताए सीमित होती है। वह केवल जीवन-रक्षक आवश्यकताओ को ही पूर्ण कर पाता है । धनी व्यक्ति की आवश्यकताए उससे बहुत

अधिक होती है। वह केवल जीवन-रक्षक आवश्यकताओ को ही पूर्ण नही करता, विलासितायुक्त आवश्यकताओ को भी पूर्ण करता है।

धार्मिक भावना के द्वारा आवश्यकता का निर्धारण

धार्मिक व्यक्ति की आवश्यकताएं नैतिक दृष्टि से प्रभावित होती है। वह जिन नैतिक आदर्शो को मानता है, उन्ही के आधार पर अपनी आवश्यकताओ का निर्माण करता है। उसकी आवश्यकताएं बहुत कम और संतुलित होती है। किन्तु भौतिक मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्ति की आवश्यकताएं उसकी तुलना मे बहुत अधिक और बहुत प्रकार की होती है।

लाभ : लोभ

आवश्यकता का गढ़ा इतना गहरा है कि उसे कभी भरा नही जा सकता। इस सत्य की स्वीकृति धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र—दोनो ने की है। भगवान् महावीर ने कहा—'लाभ से लोभ बढ़ता है। जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है।' एक आवश्यकता पूर्ण होती है तो दूसरी नई आवश्यकता जन्म ले लेती है। आवश्यकता की इस विशेषता के आधार पर अशाति का नियम निश्चित किया गया। आवश्यकता की असीमितता के कारण मनुष्य की शाति भंग होती है।

डॉ० मार्शल का कथन

अर्थशास्त्र मे भी आवश्यकता की अपूरणीयता प्रतिपादित है। डॉ० मार्शल ने लिखा है—'मनुष्य की आवश्यकताएं और इच्छाएं असख्य और अनेक प्रकार की होती हैं।'[१] यदि मनुष्य एक आवश्यकता को पूर्ण करता है तो दूसरी नई आवश्यकता सामने खड़ी हो जाती है।वह जीवन-पर्यन्त अपनी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता। अर्थशास्त्रियो ने आवश्यकता की इस विशेषता के आधार पर 'प्रगति का नियम' (Law of Progress) स्थापित किया। उनका मत है कि असीमित आवश्यकताओं के कारण ही नये-नये आविष्कार होते है। फलस्वरूप समाज की आर्थिक प्रगति होती है।

---

1 Principles of Economics p. 73

आर्थिक प्रगति का दृष्टिकोण

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार अर्थ है। इस दृष्टिकोण से आर्थिक प्रगति बहुत आवश्यक है। आवश्यकताओं के सीमित होने पर आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहन नही मिलता। इसलिए आर्थिक विकास की दृष्टि से आवश्यकताओ का विस्तार जरूरी है। इसी वस्तु-सत्य को ध्यान मे रखकर एक प्राचीन अर्थशास्त्री ने कहा था—'असंतुष्ट संन्यासी नष्ट हो जाता है और सतुष्ट राजा नष्ट होता है।' संन्यासी के लिए आवश्यकताओ को कम करना गुण है और उनका विस्तार करना दोष है। सामाजिक व्यक्ति के लिए आवश्यकताओ को कम करना दोष है और उनका विस्तार करना गुण है।

मानवीय एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण

मनुष्य सामाजिक प्राणी है—इस वास्तविकता के संदर्भ मे अर्थशास्त्र का आवश्यकताओ को असीमित करने का दृष्टिकोण गलत नही है। किन्तु मनुष्य क्या केवल सामाजिक प्राणी ही है? क्या वह व्यक्ति नही है? क्या उसमे सुख-दुःख का सवेदन नही है? क्या असीमित आवश्यकताओ का दबाव उसमे शारीरिक और मानसिक तनाव पैदा नही करता? क्या आवश्यकता के विस्तार के पीछे खड़ा हुआ इच्छा का दैत्य शारीरिक ग्रान्थियो के स्राव को अस्त-व्यस्त और मानसिक विक्षोभ उत्पन्न नहीं कर देता? इन समस्याओ की ओर ध्यान न देकर ही हम आवश्यकताओ के विस्तार का ऐकान्तिक समर्थन कर सकते है किन्तु जब मनुष्य को मानवीय पहलू से देखते है तब हम इच्छाओ की असीमितता का समर्थन नही कर सकते। इस मानवीय और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इच्छाओ को सीमित करना जरूरी है।

मध्यवर्ती सिद्धान्त

अर्थशास्त्रीय और धार्मिक—ये दोनो दृष्टिकोण अपने-अपने विषयक्षेत्र की दृष्टि मे ही सत्य है। धर्मशास्त्र कहता है—'आवश्यकता को कम करो।' तब हमे इस सत्य की ओर से आंखे नही मूंद लेनी चाहिए कि यह प्रतिपादन मानसिक अशाति की समस्या को सामने रखकर किया गया है। अर्थशास्त्र कहता है—'आवश्यकताओ का विस्तार करो।' तब हमे इस वास्तविकता से आंखे नही मूद लेनी चाहिए कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मनुष्य की सुख-सुविधा के विकास को ध्यान मे रखकर किया गया है। महावीर ने सामाजिक व्यक्ति के लिए अपरिग्रह की बात नही कही। वह मुनि के लिए सभव है। सामाजिक प्राणी के लिए उन्होने इच्छा-परिमाण के सिद्धान्त

का प्रतिपादन किया। सामाजिक मनुष्य इच्छाओ और आवश्यकताओ को समाप्त कर जीवन को नही चला सकता और उनका विस्तार कर शांतिपूर्ण जीवन नही जी सकता। इसलिए उन्होने दोनो के मध्यवर्ती सिद्धान्त — इच्छा-परिमाण का प्रतिपादन किया।

मौलिक भिन्नता

जीवन के प्रति धर्मशास्त्र का जो दृष्टिकोण है, उससे अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण मौलिक रूप से भिन्न है। धर्मशास्त्र जीवन की व्याख्या आंतरिक चेतना के विकास के पहलू से करता है। अर्थशास्त्र जीवन की व्याख्या आर्थिक क्रियाओ के माध्यम से करता है। दोनो व्याख्याओ की पृष्ठभूमि और दृष्टिकोण एक नही है इसलिए धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र का और अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र का समर्थन नही करता। किन्तु धर्म और धन—दोनो का सामाजिक जीवन से सम्बन्ध होता है, इसलिए जीवन के कुछ बिन्दुओ पर उनका सगम होता है, वे एक-दूसरे को प्रभावित भी करते है। भगवान् महावीर ने कहा—'इच्छाओ को संतोष से जीतो।' अग्नि मे ईधन डालकर उसे बुझाया नही जा सकता, वैसी ही इच्छा की पूर्ति के द्वारा इच्छाओ को संतुष्ट नही किया जा सकता। आवश्यकताओ की वृद्धि, वस्तुओ की वृद्धि, उत्पादन और श्रम की वृद्धि मे योग देती है। किन्तु सुख और शाति मे योग देती है—यह मान्यता भ्रांतिपूर्ण है। आवश्यकताओ की वृद्धि से जीवन का स्तर उन्नत होता है, किन्तु सुख और शाति का स्तर उन्नत होता है—यह नही माना जा सकता।

इच्छा परिमाण की सीमा-रेखा

धार्मिक मनुष्य भी सामाजिक प्राणी होता है। सामाजिक होने के कारण वह अनिवार्यता और सुविधा की कोटि की आवश्यकताओ को नही छोड़ पाता। महावीर ने गृहस्थ को उनके त्याग का निर्देश नही दिया। विलासिता कोटि की आवश्यकताएं धार्मिक को छोड़नी चाहिए—इस आधार पर 'इच्छा-परिमाण' की सीमा-रेखा खीची जा सकती है।

अनिवार्यता और सुविधा की कोटि की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हुए विलासिता कोटि की आवश्यकताओ और इच्छाओं का सयम करना आवश्यक है। इसमे आर्थिक विकास और उन्नत जीवन-स्तर की संभावनाओ का द्वार बन्द भी नही है तथा विलासिता के आधार पर होने वाली आर्थिक प्रगति और उन्नत जीवन-स्तर का द्वार खुला भी नही है।

परिभाषा अनिवार्यता की

अर्थशास्त्र के अनुसार अनिवार्यता, सुविधा और विलासिता की सीमा इस प्र
है—'सुख-दुःख के आधार के अनुसार आवश्यकताओ का वर्गीकरण इस बात
निर्धारित होता है कि किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता को सुख मिलता है
उपभोग न करने से उसे दुःख होता है। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य
थोड़ा-सा सुख मिलता है और उपभोग न करने से बहुत दुःख का अनुभव होता है त
ऐसी वस्तु को हम अनिवार्यता कहेगे। यदि किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य व
अनिवार्यता की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है, परन्तु उसका उपभोग न करने
थोड़ा-सा दुःख होता है तब ऐसी वस्तु को हम अनिवार्यता कहेगे। यदि किसी वस
के उपभोग से मनुष्य को अनिवार्यता की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है, परन्तु उसक
उपभोग न करने से थोड़ा-सा दुःख होता है। तब ऐसी वस्तु के उपभोग करने से
अत्यन्त सुख का अनुभव होता है तथा उसका उपभोग न करने से दुःख नही होता
(सिवाय इसके कि जब मनुष्य उस वस्तु के उपभोग का आदी होता है) तब उसको
विलासिता की वस्तु कहते है। यदि किसी वस्तु के उपभोग से अल्पकालिक सुख
मिलता है तथा उपभोग न करने से बहुत कष्ट होता है तब उसको धनोत्सर्गिक वस्तु
कहते है।

सुख-दुःख के आधार पर आवश्यकताओ के इस वर्गीकरण को निम्न तालिका
द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मनुष्य पर सुख-दुःख पर प्रभाव

वस्तुएं	वस्तु का उपभोग करने पर	वस्तु का उपभोग न करने पर
अनिवार्यताएं	थोड़ा-सा सुख मिलता है।	बहुत दुःख होता है।
सुखदायक वस्तुए (सुविधाएं)	कुछ अधिक सुख मिलता है।	थोड़ा दुःख होता है।
विलासिताएं	बहुत सुख मिलता है।	दुःख नही होता ।

धर्म की दृष्टि

अर्थशास्त्री की दृष्टि मे नैतिकता और शाति—ये सब गौण होते हैं। उसके सामने मुख्य प्रश्न आर्थिक प्रगति के द्वारा मानवीय कल्याण का होता है। इस आधार पर वह विलासिता का समर्थन करता है और आर्थिक प्रगति के लिए उसे आवश्यक मानता है। धर्म-गुरु की दृष्टि मे आर्थिक प्रगति का प्रश्न गौण होता है, नैतिकता और शांति का प्रश्न मुख्य होता है।

धर्म-गुरु सामाजिक व्यक्ति को धर्म मे दीक्षित करता है, इसलिए वह उसकी आर्थिक अपेक्षाओ की सर्वथा उपेक्षा कर उसके लिए अपरिग्रह के नियमो की संरचना नही कर सकता। इस आधार पर 'इच्छा-परिमाण' व्रत के परिपार्श्व मे महावीर ने इन नैतिक नियमो का निर्देश दिया—

१. झूठा तोल-माप न करना।

२. मिलावट न करना।

३. असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु न बेचना।

इच्छा परिमाण : नियामक तत्त्व

समाज के संदर्भ मे इच्छा-परिमाण के नियामक तत्त्व दो है—प्रामाणिकता और करुणा। व्यक्ति के संदर्भ मे उसका नियामक तत्त्व है—सयम। झूठा तोल-माप आदि न करने के पीछे प्रामाणिकता और करुणा की प्रेरणा है। व्यक्तिगत उपभोग कम करने के पीछे संयम की प्रेरणा है। महावीर के व्रती श्रावक अर्थार्जन मे अप्रामाणिक साधनो का प्रयोग नही करते थे और व्यक्तिगत जीवन की सीमा रखते थे। धन के अर्जन मे प्रामाणिक साधनो का उपयोग न करना, सग्रह की निश्चित सीमा करना और व्यक्तिगत उपभोग का संयम करना—ये तीनो मिलकर 'इच्छा-परिमाण' व्रत का निर्माण करते है।

प्रश्न धर्म और गरीबी का

यह आर्थिक विपन्नता का व्रत नही है। धर्म और गरीबी मे कोई सम्वन्ध नही है। गरीब आदमी ही धार्मिक हो सकता है या धार्मिक को गरीब होना चाहिए—यह चिन्तन महावीर की दृष्टि में त्रुटिपूर्ण है। धर्म की आराधना न गरीब कर सकता है और

---

१. एम. एल. सेठ, आधुनिक अर्थशास्त्र, पृ. ९०-९१।

न अमीर कर सकता है। जिसके मन मे शान्ति की भावना जागृत हो जाती है, वह धर्म की आराधना कर सकता है, फिर चाहे वह गरीब हो या अमीर। धार्मिक व्यक्ति गरीबी और अमीरी—दोनो से दूर होकर त्यागी होता है।

जन्मना : कर्मणा

हमने धर्म को एक जाति का रूप दे दिया। हमारे युग के धार्मिक जन्मना धार्मिक है। जो व्यक्ति जिस परम्परा मे जन्म लेता है, उस वंश-परम्परा का धर्म उसका धर्म हो जाता है। जन्मना धार्मिक के लिए इच्छा-परिमाण का व्रत अर्थवान् नही है। यह उन लोगो के लिए अर्थवान् है, जो कर्मणा धार्मिक होते हैं। ऐसे धार्मिक साधु-संन्यासियो जितने विरल नही, फिर भी जनसंख्या की अपेक्षा विरल ही होते है। इसलिए उनके आधार पर न तो आर्थिक मान्यताएं स्थापित होती है और न वे आर्थिक प्रगति मे अवरोध बनते हैं। अधिकांश धार्मिक जन्मना धर्म के अनुयायी होते है। वे आवश्यकताओ की कमी, अर्थ-संग्रह की कमी, विलासिता के संयम और नैतिक नियमो मे विश्वास नही करते। उनका धर्म नैतिकता-शून्य धर्म होता है। वे धार्मिक होने के साथ-साथ नैतिक होना आवश्यक नही मानते। वे धर्म के प्रति रुचि प्रदर्शित करते हैं, पर उनका आचारण नही करते। ऐसे धार्मिको का धर्म आर्थिक प्रगति को प्रभावित नही करता।

आवश्यकता वृद्धि का समर्थन

अर्थशास्त्र मे आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यकता बढ़ाने का सिद्धान्त है। कुछ अर्थशास्त्री इसका मुक्त समर्थन करते हैं तो कुछ अर्थशास्त्री इसके मुक्त समर्थन के पक्ष मे नही है। आवश्यकताओ को बढ़ाने के पक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. आवश्यकताओ की वृद्धि से मनुष्य को अधिकतम सुख या संतोष प्राप्त होता है।

२. आवश्यकताओ की वृद्धि सभ्यता के विकास और जीवनस्तर की उन्नति मे सहायक होती है।

३. आवश्यकताओ की वृद्धि से धन के उत्पादन मे वृद्धि होती है।

४. आवश्यताओं की वृद्धि से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है फलतः वह राज्य सैनिक दृष्टिकोण से सशक्त और अपनी रक्षा मे आत्मनिर्भर हो जाता है।

विपक्ष में तर्क

आवश्यकता को बढ़ाने के विपक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते है—

१. आवश्यकताओ की वृद्धि से मनुष्य दुःख-क्लेश का अनुभव करता है।

२. आवश्यकताओ की वृद्धि और फिर उनकी संतुष्टि के लिए निरंतर प्रयत्न मनुष्य को भौतिकवादी बनाता है।

३. आवश्यकताओ की वृद्धि से समाज मे वर्ग-संघर्ष (Class struggle) हो जाता है।

४. आवश्यकताओ की वृद्धि से मनुष्य स्वार्थी हो जाता है और वह अधिक धन कमाने के लिए अप्रामाणिक साधनो का प्रयोग करता है।

आवश्यकता और संतुष्टि

अनेकान्त की दृष्टि से मीमासा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्याश दोनो के मध्य मे है। आवश्यकताओ की अत्यन्त कमी मे समाजिक उन्नति नही होती—यह अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण मिथ्या नही है तो आवश्यकताओ की अत्यन्त वृद्धि होने पर दुःख या क्लेश बढ़ता है, यह दृष्टिकोण भी मिथ्या नही है। इस दूसरे दृष्टिकोण को धर्म का समर्थन भी प्राप्त है। अर्थशास्त्र का समर्थन इसलिए प्राप्त है कि मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मानवीय कल्याण का शास्त्र है और इसका मुख्य उद्देश्य मानवीय कल्याण मे वृद्धि करना है।[१] सीमित साधनो मे असीमित आवश्यकताओ की संतुष्टि का पथ प्रदर्शित करना अर्थशास्त्र का कार्य है किन्तु जिस अनुपात मे आवश्यकताओ की वृद्धि की जा सकती है उसी अनुपात मे उनकी संतुष्टि नही की जा सकती। अधिकाश लोग अपनी तीव्र आवश्यकताओ (अनिवार्यताओ) की सतुष्टि कर पाते है। मध्यम आवश्यकताओ (सुविधाओं) की सतुष्टि अपेक्षाकृत कम लोग कर पाते है। मन्द आवश्यकताओ (विलासिताओं) की सतुष्टि कुछ ही लोग कर पाते है।

आवश्यकता वृद्धि से जुड़ी समस्याएं

इस क्रम के साथ महावीर के दृष्टिकोण—'लाभ से लोभ बढ़ता है'—का अध्ययन करने पर यह फलित होता है कि आवश्यकताओ की वृद्धि के क्रम मे कुछ आवश्यकताओ की संतुष्टि की जा सकती है, किन्तु उनकी वृद्धि के साथ उभरने वाले

---

१. अल्फ्रेड मार्शल, *Principles of Economics, p I*

मानसिक असंतोष और अशान्ति की चिकित्सा नही की जा सकती। अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत मानव के भौतिक कल्याण की वेदी पर मानव की मानसिक शान्ति की आहुति नही दी जा सकती। इसलिए भौतिक कल्याण और आध्यात्मिक कल्याण के मध्य सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। यदि मनुष्य समाज को मानसिक तनाव, पागलपन, क्रूरता, शोषण, आक्रमण और उच्छृंखल प्रवृत्तियो से बचना इष्ट है तो यह अनिवार्यता और अधिक तीव्र हो जाती है। इसी अनिवार्यता की अनुभूति करके ही महावीर ने समाज के सामने 'इच्छा-परिमाण' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस आदर्श मे अनिवार्यताओं और सुविधाओ को छोड़ने की शर्त नही है और विलासितापूर्ण आवश्यकताओ की परम्परा को चालू रखने की स्वीकृति भी नही है।

उपभोग का समर्थन

'इच्छा-परिमाण' के सिद्धान्त की अर्थशास्त्रीय आवश्यकता-वृद्धि के सिद्धान्त से मौलिक भिन्नता दो विषयो की है। पहली भिन्नता यह है—अर्थशास्त्र विलासिताओ के उपभोग का समर्थन करता है। उसके समर्थन मे निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

१. विलासिताओ के उपभोग से सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है।

२. कर्मशीलता को प्रोत्साहन मिलता है।

३. जीवन-स्तर ऊंचा होता है।

४. धन संग्रह होता है। संकट के समय वह (आभूषण आदि) सहायक सिद्ध होता है।

५. कला-कौशल, कारीगरी तथा उद्योग-धंधो को प्रोत्साहन मिलता है।

उपभोग का विरोध

सब अर्थशास्त्री इन विलासिताओ के उपभोग के सिद्धान्त का समर्थन नही करते। उनका दृष्टिकोण यह है कि विलासिताओ के उपभोग से—

१. वर्ग-विषमता (Class inequality) बढ़ती है।

२. उत्पादन-कार्यो के लिए पूजी की कमी हो जाती है।

३. निर्धन वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव होता है, द्वेष तथा घृणा की वृद्धि होती है।

विलासिता के प्रति यह दृष्टिकोण धर्म के दृष्टिकोण के भिन्न नही है, किन्तु विलासिता के समर्थन का अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण उससे सर्वथा भिन्न है।

प्रश्न नैतिकता का

दूसरी भिन्नता यह है कि अर्थशास्त्र के नैतिक नियमो की अनिवार्यता स्वीकृत

नही है। नैतिक नियमो की अवहेलना उसका उद्देश्य नही है, किन्तु यह उसकी प्रकृति का प्रश्न है। उसकी प्रकृति उपयोगिता है। उपयोगिता का अर्थ है—आवश्यकता को सतुष्ट करने की क्षमता। नैतिक नियम के अनुसार शराब मनुष्य के लिए लाभदायी नही है, इसलिए वह उपयोगी भी नही है। वही वस्तु उपयोगी हो सकती है, जो लाभदायी हो। जो प्रवृत्तिकाल और परिणाम-काल —दोनो मे सुखद न हो, वह लाभदायक नही हो सकती और जो लाभदायक नही हो सकती, वह उपयोगी नही हो सकती।

अर्थशास्त्र का मत

अर्थशास्त्र मे उपयोगिता की परिभाषा नैतिकता की परिभाषा से भिन्न है। उसमे उपयोगिता के साथ लाभदायिकता का अनुबन्ध नही है। आवश्यकता को सतुष्ट करने वाली वस्तु लाभदायी न होने पर भी उपयोगी हो सकती है। मद्यपान निश्चित रूप से हानिकारक है किन्तु मद्य मे मद्यप के लिए एक उपयोगिता है। मद्यप मद्य की आवश्यकता का अनुभव करता है और मद्य उसकी आवश्यकता को संतुष्ट करती है। प्रो० रोबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्र मे ऐसे अनेक विषयो का अध्ययन किया जाता है, जिसका मानवीय कल्याण से दूर का भी सम्बन्ध नही होता। मद्य पीने से मनुष्य के कल्याण अथवा सुख मे किसी प्रकार की वृद्धि नही होती, प्रत्युत कमी होने की सम्भावना है। फिर भी मद्य-उद्योग का अर्थशास्त्र मे अध्ययन होता है, क्योकि मद्य-निर्माण एक आर्थिक कार्य है और अनेक व्यक्ति इस उद्योग से अपनी आजीविका कमाते है।

अन्तर है प्रकृति का

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण का यह अन्तर उसकी प्रकृति का अन्तर है। दोनो की प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है—

१. नैतिक नियम मनुष्य के सामने जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते है। आर्थिक नियम मानवीय आचरण के आर्थिक पहलुओ का अध्ययन करते है।

२. नैतिक नियमो की अवहेलना करने पर मनुष्य को आत्मग्लानि होती है। आर्थिक नियमो का अतिक्रमण करने पर आत्मग्लानि नही होती।

३. नैतिक नियमो का पालन करने पर मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है। आर्थिक नियमो का पालन करने पर आर्थिक उन्नति होती है।

नीतिशास्त्र का अर्थशास्त्र पर प्रभाव

अर्थशास्त्र मे नैतिकता के लिए सर्वथा अवकाश नही है ऐसी बात नही है। ईमानदारी, निष्कपटता आदि गुणो को कार्य-कुशलता का निर्धारण करने वाले तत्त्वों के रूप मे स्वीकार करने वाले अर्थशास्त्री नैतिकता की सर्वथा उपेक्षा नही कर सकते। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र—ये दोनो समाजशास्त्र के ही अंग है । इन दोनो मे मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है । अर्थशास्त्र मे मानवीय व्यवहार के आर्थिक पहलू का और नीतिशास्त्र मे उसके आदर्शात्मक पहलू का अध्ययन किया जाता है। नीतिशास्त्र आदर्श प्रस्तुत करता है । वह हमे बताता है, कि हमारा आचरण कैसा होना चाहिए । नीतिशास्त्र उचित और अनुचित मे भेद करने का आदेश देता है और हमे बताता है कि क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए । अर्थशास्त्री आर्थिक निर्णय सुनाते तथा व्यवस्था देते समय नीतिशास्त्र के निर्देशो की उपेक्षा नही कर सकते। उदारहणार्थ डॉ० मार्शल ने सदाचार के आधार पर अपनी 'उत्पादक श्रम' की धारणा से वेश्यावृत्ति को बाहर निकाल दिया । जैसा कि प्रो० सैलिगमैन (Saligman) ने कहा है—'सच्ची आर्थिक क्रिया परिणामतः सदाचारिक होनी चाहिए ।' इस प्रकार अर्थशास्त्री आर्थिक नीति के निर्माण मे नीतिशास्त्र की उपेक्षा नही कर पाता ।

अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र पर प्रभाव

इसी प्रकार अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है । आर्थिक परिस्थितियां मनुष्य के चरित्र तथा आचार-विचार पर गहरा प्रभाव डालती है । अमुक व्यक्ति का आचार कैसा होगा, यह इस बात से निश्चित होता है कि वह अपनी आजीविका कैसे कमाता है । इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

महावीर ने कहा—'इच्छा का परिमाण नही करने वा..ा मनुष्य अधर्म से आजीविका कमाता है और इच्छा का परिमाण करने वाला मनुष्य धर्म से आजीविका कमाता है । अधर्म या धर्म से आजीविका कमाने मे आर्थिक परिस्थितियां निमित्त बनती है, किन्तु उनका उत्पादन कारण अनासक्ति तथा धर्मश्रद्धा का तारतम्य है ।

इच्छा परिमाण के निष्कर्ष

'इच्छा-परिमाण' के निष्कर्ष सक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते है—

१ न गरीब और न विलासिता का जीवन ।

२. धन आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, साध्य नहीं। धन मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन के लिए नही है।

३. आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए धन का अर्जन किन्तु दूसरो को हानि पहुंचाकर अपनी आवश्यकताओ की संतुष्टि न हो, इसका जागरूक प्रयत्न।

४. आवश्यकताओ, सुख-सुविधाओ और उनकी संतुष्टि के साधनभूत धन-संग्रह की सीमा का निर्धारण।

५. धन के प्रति उपयोगिता के दृष्टिकोण का निर्माण कर संगृहीत धन मे अनासक्ति का विकास।

६. धन के संतुष्टि-गुण को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उसकी असारता का अनुचिन्तन।

७. विसर्जन की क्षमता का विकास।

जिज्ञासा : समाधान

प्रश्न—महावीर ने उत्पादन के विषय में क्या विचार दिये हैं?

उत्तर—महावीर ने उत्पादन के बारे मे कोई विचार नहीं दिया, किन्तु उत्पादन की समस्या के बारे मे विचार जरूर दिया है। आज उत्पादन वृद्धि गरीबी मिटाने के लिए नही है, वह बाजार भावो को स्थिर करने के लिए है। अगर ज्यादा उत्पादन होता है तो उसे समुद्र मे डाल दिया जाता है, जिससे बाजार स्थिर रहे। उत्पादन का लक्ष्य गरीबी मिटाना नही, बाजार को स्थिर बनाए रखना है। यदि उत्पादन का लक्ष्य गरीबी मिटाना होता तो लाखो टन अनाज समुद्र मे नही फेंका जाता। महावीर ने कहा—क्रूरतापूर्वक कार्य मत करो, मानवीय संवेदना को गौण मत करो। अगर मानवीय संवेदना रहेगी तो गरीबी और भूखमरी की स्थिति मे हजारो-लाखों टन खाद्य-पदार्थ नष्ट नही किये जाएंगे।

प्रश्न—दो व्यक्ति बराबर श्रम करते हैं। एक के अच्छी उपज हो जाती है दूसरे के ओला-पाला पड़ जाता है। क्या यह पूर्वजन्म के कर्मों का फल नहीं है?

उत्तर—इसमे पूर्व जन्म के कर्मो का ही फल क्यो माने? वर्तमान का ही मान ले। कर्म का संबंध नही है, ऐसा नही कहा जा सकता। किसी घटना मे हो भी सकता है किन्तु इसमे एक कारण पवित्र भावना भी है। एक आदमी ने अच्छे विचार से खेती की, पवित्र मन से खेती की। दूसरे ने शुद्ध मन से नही की, खराब कल्पना आ गई। ऐसे में परिणाम वदल जायेगा। एक छोटी-सी कहानी है—

दो किसान अपने खेतों की ओर जा रहे थे। रास्ते मे साधु मिले। उनका सिर मुंड़ा हुआ था। एक ने देखा और सोचा—

मस्तक मुंड पाग सिर नाहीं।
कड़प हुसी पर सिट्टा नाहीं।

इसका माथा मुंडा हुआ है। इसलिए कड़वी तो होगी, पर सिट्टा नही होगा। दूसरे ने देखा उसके मन मे भाव आया—

एक देख नै हुयो खुशी।
इणरे माथे जिसा सिट्टा हुसी।

वह खुश हो गया। इतना बड़ा माथा है तो इसके बराबर ही सिट्टे होगे।

ठीक ऐसे ही हुआ। एक के खेत मे खूब बड़े-बड़े बाजरे के सिट्टे लगे, दूसरे खेत के मालिक को केवल कड़प से ही संतोष करना पड़ा। वैज्ञानिको ने इस विषय पर बड़ी शोध की, बहुत प्रयोग किये। एक पौधे को बड़े पवित्र भावो के साथ सीचा गया और दूसरे को अपवित्र भावो के साथ। पहला कुछ ही दिनो मे लहलहा उठा और दूसरा मुरझा कर सूख गया। कर्म भी एक कारण हो सकता है पर हर जगह यही कारण हो, ऐसी बात नही है। ऐसा सोचना ऐकान्तिक बात होगी।

प्रश्न—हिन्दुस्तान बड़ा मुल्क है, फिर भी पाकिस्तान जैसे छोटे से देश से क्यों डरता है?

उत्तर—दोनो एक-दूसरे से डर रहे है। हिन्दुस्तान को डर यह है कि पाकिस्तान अपने को इतने आधुनिक हथियारो से लैस कर रहा है और अभी-अभी वहा के पूर्व प्रधानमंत्री ने परमाणु हथियार होने की बात भी स्वीकार की है। डर यही है कि जब भी उसका उपयोग होगा, हिन्दुस्तान के खिलाफ ही होगा। ठीक ऐसा ही डर पाकिस्तान को भी है। दोनो देशो मे बेहिसाब गरीबी है। शिक्षा, चिकित्सा, खाद्यान्न जैसी समस्याओ से दोनो जूझ रहे है, किन्तु अविश्वास और डर दोनो को सुरक्षा पर भारी व्यय करा रहा है। यदि अविश्वास के बादल छंट जाएं, संदेह का माहौल न रहे तो भय भी विलीन हो जाए।

प्रश्न—संग्रह और प्रभुत्व की मानसिकता में कैसे परिवर्तन आ सकता है?

उत्तर—वर्षो पहले की बात है। पूज्य गुरुदेव गंगाशहर मे विराज रहे थे। श्री राजीव गांधी वहां आए। गुरुदेव ने उनसे कहा—'आप इन्दिराजी को हमारा एक संदेश दे देना कि आज केवल व्यवस्था परिवर्तन की बात हो रही है और वह भी दण्डशक्ति के द्वारा। यह दण्डशक्ति एक सीमा तक आवश्यक हो सकती है, किन्तु यदि हृदय-परिवर्तन नही हुआ तो दण्डशक्ति के द्वारा किया जा रहा यह व्यवस्था-परिवर्तन कारगर नही होगा, स्थायी नही होगा।'

एक सीमा तक दण्डशक्ति और उसके साथ हृदय-परिवर्तन का प्रशिक्षण—दोनो साथ-साथ चले, तभी व्यवस्था मे आमूलचूल परिवर्तन हो सकेगा, प्रभुत्व की मानसिकता में बदलाव आएगा।

परिवर्तन का सूत्र है—व्यवस्था भी बदले, व्यक्ति का हृदय भी बदले। दोनो

संयुक्त रूप से चले, तभी परिवर्तन की परिकल्पना साकार हो सकेगी।

प्रश्न—मनुष्य का कर्त्तव्य श्रेष्ठता में परिलक्षित होता है तो फिर श्रेष्ठता के बढ़ने में रुकावट क्यों डाली जाये ? उसकी सीमा क्यों की जाए?

उत्तर—श्रेष्ठता के बढ़ने मे कोई रुकावट नही डाली जानी चाहिए और वह वांछनीय भी नही है किन्तु श्रेष्ठता का मुखौटा पहनकर अश्रेष्ठता आए, इसकी रुकावट अवश्य होनी चाहिए। आज खतरा इस बात का है कि वे साधन और सामग्रिया मनुष्य मे अश्रेष्ठता पैदा कर रही हैं। उनकी रुकावट होनी चाहिए।

किसी देश ने कैसर या एड्स की सफल दवा का आविष्कार किया। उसका आयात न हो, यह कभी वांछनीय नही हो सकता। हर वस्तु का विवेक के साथ संयम होता है। यह नहीं होना चाहिए कि गौ मांस का भी निर्यात करे डालर या किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के लिए। यह वांछनीय नही है। आज ऐसा हो रहा है कि बढ़िया वस्तुओ का तो निर्यात होता है। जहां पैदा होती है, वहां के लोगो को तो देखने को भी नही मिलती, दूसरे देशो में भेज दी जाती हैं और आयात होता है विलासिता की वस्तुओ का। रोटी की समस्या भी जहां न सुलझ रही हो, वहां विलासिता की वस्तुओं का आयात निरी मूर्खता के सिवा और कुछ नही है। कोई भी समझदार शासक या दल सर्वप्रथम यह देखेगा कि राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी हो रही है या नहीं। इस दिशा मे न सोचकर विलास-सामग्री का आयात करना क्या अश्रेष्ठता का प्रवेश नही है ? इसकी रुकावट अवश्य होनी चाहिए।

प्रश्न—साम्यवादी शासन में नियंत्रण था पर अशान्ति नहीं थी। जैसे ही खुलापन आया है, समस्याएं गंभीर बन रही हैं। आप इस संदर्भ में क्या सोचते हैं?

उत्तर—साम्यवादी शासन के सात दशक मे इतना नियंत्रण था कि आदमी को यह सोचने की भी स्वतन्त्रता नही थी कि मै शान्ति मे हूं या अशान्ति मे। एक यंत्र का पुर्जा जैसा बना हुआ था। अब नियत्रण हटा है, कुछ सोचने की, बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता मिली है, तब वह अपनी समस्याओ पर विचार कर रहा है। आज यह आभास मिलता है, शायद प्राथमिक आवश्यकताओ की जितनी कमी वहां है, उतनी और कही नही। विमान, तोप और प्रक्षेपास्त्र बनाने वाले, अंतरिक्ष मे उपग्रह छोड़ने और प्रयोगशाला स्थापित करने वाले उस साम्यवादी देश मे डबलरोटी के लिए भी लम्बी लाइन लगती है। ये सारी विपरीत अवधारणाएं चली— शस्त्र-निर्माण और अंतरिक्षयान के निर्माण मे तो अपरिमित राशि खर्च कर दी और प्राथमिक

आवश्यकताओ पर ध्यान ही नही दिया। अब लौहावरण के हटने पर सब कुछ साफ दिखाई देने लगा है कि वहां न तो कभी शान्ति थी और न अहिसा थी। इसकी बात अब वे करने लगे है। यह शान्ति और अहिसा की बात प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद ही समझ मे आती है।

प्रश्न—संयुक्त परिवार की परम्परा टूट रही है। परिवार बिखरते जा रहे हैं। इसका मूल कारण क्या है?

उत्तर—परिवार का मुखिया जितना सहिष्णु और संतुलित होना चाहिए, उतना आज नही होता, यह पहली कमी दिखाई दे रही है। पूज्य गुरुदेव ने परिवार या समाज के मुखिया के लिए एक सूत्र दिया था—समता, क्षमता और ममता का। ये तीन बाते हो तो परिवार बिखरेगा नही। मुखिया मे समता होनी चाहिए, उसका दृष्टिकोण सम होना चाहिए। चार पुत्र है तो चारो के प्रति समान दृष्टिकोण हो। क्षमता— सहिष्णुता भी होनी चाहिए। परिवार मे नाना रुचि के, नाना स्वभाव के लोग होते है। जहा तक हो सके, उनकी बातो को सहन करना चाहिए। सबके प्रति ममता— अपनत्व का भाव रहे। यह परिवार को एक रखने का बहुत बड़ा साधन है।

एक समस्या यह है— वर्तमान मे आकर्षण बहुत पैदा हो गए है और अनेक गलत धारणाएं पैदा हो गई है। उनमे स्वतन्त्रता की मिथ्या धारणा प्रमुख है। चार भाई हैं, उनमे से तीन कमजोर है। पहले चिन्तन यह होता था— एक भाई उन तीनो को साथ लेकर चलता था, उन्हे सहारा देता था। आज चितन यह हो गया है कि हम इनके साथ पिछड़े क्यो रहे। विकास करे, आगे बढ़े, हमे इनसे क्या लेना-देना है? इस स्वार्थवृत्ति के विकास ने भी परिवारो को तोड़ा है। वर्तमान का एक और चिंतन इसके लिए उत्तरदायी है—सभी स्वतन्त्र रहना चाहते हैं, कोई किसी के अधीन या पीछे चलना नही चाहता। ये सब ऐसे कारण है, जिनसे बिखराव की स्थिति बनती है।

प्रश्न—नैतिकता अच्छी है, हर व्यक्ति नैतिक होना चाहता है किन्तु मौका आने पर अनैतिक बन जाता है, क्यों?

उत्तर—आप इस बात को समझ ले कि नैतिकता अच्छी है, आदमी नैतिक बनना चाहता है, मात्र इतने से ही वह नैतिक नही बन सकता। उसके लिए साधना और अभ्यास जरूरी है। जीवन विज्ञान यही तो कहता है कि अच्छी बाते पढ़ने से ही आदमी अच्छा नही बनेगा। अच्छी बात का अभ्यास करने से आदमी अच्छा बनेगा। कौन व्यक्ति ऐसा है, जो अच्छाई और बुराई को नही जानता? किन्तु वह अच्छाई सीखने का अभ्यास नही करता। आप सिर्फ एक सूत्र को याद कर ले—'अच्छी बात

पढ़ने-सुनने से आदमी अच्छा नही बनता, अच्छी बात का अभ्यास करने से आदमी अच्छा बनता है ।'

प्रश्न–विकास की वर्तमान अवधारणा से चरित्र-विकास नहीं हो रहा है। क्या इसके लिए विकास के वर्तमान मानक उत्तरदायी हैं? चरित्र-विकास के लिए क्या करना चाहिए?

उत्तर—प्रोडक्शन और कंजंक्शन—ये विकास के मानदण्ड बन गए। आप जानते ही होगे— जिन राष्ट्रो मे विकास की यह अवधारणा बनी, आज वहा भी अन्तर्द्वन्द्व छिड़ गया है । विकास की यह अवधारणा ठीक नहीं है, इस पर वहा भी बहस छिड़ी हुई है । विकास की अवधारणा को बदलना पड़ेगा । विकास की अवधारणा मे चरित्र की अवधारणा को भी जोडना पड़ेगा । पदार्थ मिले और उसके साथ चरित्र भी विकसित हो तो वह विकास की एक समग्र अवधारणा होगी । आज की इस अधूरी सचाई ने, अधूरी अवधारणा ने चरित्र को भ्रष्ट किया है, मानवीय मूल्यो का ह्रास किया है और इतनी अशान्ति दी है कि कल तक जो विकास की यह परिभाषा करते थे, आज उनमें भी एक नया चिंतन शुरू हुआ है । मार्क्सवादी चिंतको मे भी विकास की इस आवधारणा को लेकर दो खेमे बन गए है । इसलिए विकास के बारे मे नए सिरे से सोचना होगा । अर्थशास्त्रीय अवधारणा चारित्रिक मूल्यो से अनुभूत और अनुप्राणित बने तभी उसके विकास की संभावना की जा सकती है ।

प्रश्न–महावीर की अर्थनीति के जो सूत्र हैं, वे पूंजीवाद की ओर ज्यादा झुके है या साम्यवाद की ओर?

उत्तर—महावीर का दृष्टिकोण सापेक्षवादी दृष्टिकोण है ।अगर हम उनके सिद्धान्तो को पढ़े तो उन्हे सोशलिज्म की अपेक्षा विकेन्द्रित अर्थनीति कहे तो ज्यादा ठीक होगा ।जैसे साम्यवाद और पूजीवाद केन्द्रित अर्थनीति मे है, महावीर के दर्शन मे ये दोनो नही है ।दोनो से परे तीसरी विकेन्द्रित अर्थनीति पर महावीर के सूत्र ज्यादा फलित होते है ।

प्रश्न–एक ओर हम प्रकृति की वात करते हैं, कहा जाता है— जीवो जीवस्य जीवनम्, दूसरी ओर हम अहिंसा की वात करते हैं। यह विरोधाभास क्यों?

उत्तर—हमारी कठिनाई यही है कि हम किसी वात को सापेक्ष दृष्टि से नहीं देखते । जीवो जीवस्य जीवनम्—यह सापेक्ष वात है । जीव जीव का जीवन है, यह समुद्र मे मछली के लिए लागू होता है । वहा एक जीव दूसरे जीव का भोजन है । यह नियम जंगली जानवरो, हिंसक पशुओ पर लागू होता है, मनुष्यों पर नही । मनुष्यों के

लिए तो कहा गया—'मात्स्य न्याय नही होना चाहिए, बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, यह मात्स्य न्याय है। यह सिद्धान्त मनुष्य के लिए नही, उनके लिए है, जिनके पास और कोई विकल्प नही है। मनुष्य का ग्रंथितत्र और नाड़ीतंत्र इतना विकसित है कि वह बहुत बड़ा परिवर्तन कर सकता है। उसके लिए यह नियम लागू नही है।

प्रश्न—देश काल की स्थितियां आज बदल रही हैं। ऐसे में कौन-सा रास्ता अपनाएं? आवश्यकता की सीमा क्या हो?

उत्तर—पखा आवश्यक हो सकता है, इसमे कोई खास बात नही है। किन्तु सुविधा के नाम पर अनावश्यक को आवश्यक न बनाए। होठो पर लिपस्टिक लगाना, पशुओ को मारकर उनकी खाल और बालो को पहनना, ओढ़ना—यह क्यो आवश्यक है? बहुत सारी अनावश्यक बाते है, जिन्हे इस विज्ञापन की दुनिया ने आवश्यक बना दिया है। हमारी वासनाएं उभारी है इन कृत्रिम आवश्यकताओ ने। हम यथार्थ के आधार पर चले तो हमारे जीवन की जितनी मौलिक आवश्यकताए है, उन्हे एक आवश्यक सीमा तक तो स्वीकार कर ले, शेष को अस्वीकार करे तो ज्यादा हितकर होगा। एक समय था जब आदमी खुले प्रागण मे रहता था। खुली हवा, खुला प्रकाश। आज सब कुछ कितना बदल गया। बिजली का प्रकाश, पंखे की हवा। प्रकृति से जैसे दूर हो गए। आज ये अनावश्यक चीज़े आवश्यक जैसी बन गई है, किन्तु चितन स्वय करे कि इनसे हमे लाभ हुआ है या नुकसान? स्वास्थ्य इनसे सुधरा है या बिगड़ा है? बीमारिया इन साधनो ने मिटाई है या बढ़ाई है? यदि हम इस दृष्टि से सोचेगे तो सचमुच जीवन की कृत्रिम आवश्यकताओ से मुक्ति की बात समझ मे आ जाएगी।

प्रश्न—क्या विकेन्द्रित अर्थनीति के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण जरूरी है? सत्ता केन्द्रित हो और अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित — यह संभव है?

उत्तर—विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था होगी तो शासन भी विकेन्द्रित होगा, समाज की व्यवस्था भी विकेन्द्रित होगी। यह कभी नही हो सकता कि सत्ता केन्द्रित है और अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित हो जाये। सत्ता विकेन्द्रित हो और अर्थव्यवस्था केन्द्रित हो, यह भी सभव नही। विकेन्द्रीकरण होगा तो सत्ता मे, अर्थव्यवस्था मे, जीवन की प्रणाली मे — सब मे होगा। समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था— दोनो साथ-साथ चलती हैं। सत्ता-केन्द्रित अर्थव्यवस्था बनी तो साम्यवाद मे अधिनायकवाद जन्मा। जबकि साम्यवाद का सकल्प था स्टेटलेस सोसायटी का। जहां अर्थव्यवस्था केन्द्रित होती है वहां अधिनायकवाद की अनिवार्यता हो जाती है। यह प्रमाणित हो चुका है इसलिए

यह मान कर चले कि समाज-व्यवस्था और अर्थव्यवस्था, दोनो साथ-साथ बदलेगी। केवल एक को नही बदला जा सकता।

प्रश्न—नये अर्थशास्त्र में आबादी पर कंट्रोल कैसे हो, इसका क्या प्रावधान है?

उत्तर—हमारा चिंतन है — आदमी भूखा और गरीब नही है तो आबादी नही बढ़ेगी। गरीबी के साथ आबादी का निकट का सम्बन्ध है। गरीबी जितनी बढ़ेगी, आबादी भी उतनी ही बढ़ेगी। जिस दिन भूख मिट जायेगी, पोषण ठीक मिलेगा, आबादी की दर घट जायेगी। कुपोषण और जनसंख्या की वृद्धि का गहरा नाता है। कोई भी इसका विश्लेषण कर सकता है — गरीब आदमी के जितनी संताने होती हैं, सामान्य आदमी के उतनी नही होती।

प्रश्न—छठा कालखंड कब आएगा? क्या उस समय आने वाली स्थितियों को टाला जा सकता है?

उत्तर—छठे आरे मे अभी हजारो वर्ष बाकी है। हो सकता है—इसी प्रकार औद्योगीकरण चलता रहे, ओजोन की छतरी का छेद बढ़ता चला जाए तो सभव है हजारो वर्ष बाद आने वाला कालखण्ड पहले ही आ जाए।

आने वाली कठिनाइयो को, कालखण्ड को टाला जा सके, यह तो बड़ा कठिन काम है। आज भी यथार्थ पर चिंतन करने वाले लोग बहुत कम है और सुख-सुविधा पर चिंतन करने वाले बहुत ज्यादा है। हमने ऐसे लोगो को भी सुना है, जो कहते है शराब पीते-पीते मर जाए तो चिन्ता की कौन-सी बात है। आखिर एक दिन तो मरना ही है। मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी हो गई है आज के आदमी की।इस स्थिवि मे क्या भविश्यवाणी की जा सकती है ?

प्रश्न—मस्तिष्कीय परिवर्तन के लिए क्या करना चाहिए? उसका सर्वोत्तम उपाय क्या है?

उत्तर—यदि मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की पद्धति शिक्षा के साथ जुड़े तो व्यापक परिवर्तन की सभावना की जा सकती है। भीतर से बदलना है, मस्तिष्क का परिवर्तन करना है तो यह काम शिक्षा से शुरू करना होगा।

प्रश्न—प्रकंपन का क्या सिद्धान्त है? इसके बारे में जानकारी बहुत कम है। क्या यह विज्ञान भारतीय दर्शन की उपज है?

उत्तर—प्रकंपन का पूरा एक सिद्धान्त है किन्तु जानकारी इसलिए नही है कि आज का विज्ञान महज चार सौ वर्ष पुराना है। भारत के विज्ञान से आप परिचित नही,

हैं । सारा का सारा विज्ञान पश्चिम से आयातित है । आज की सारी शिक्षा चाहे वह टेक्नोलोजी की हो, साइंस की, पश्चिम से ली हुई है । प्राचीन भारतीय विद्या के साथ हमारा कोई संपर्क नही है । क्योकि वह सारी विद्या है सस्कृत, प्राकृत मे और आज ये भाषाएं उपेक्षित है । सारा शिक्षण मुख्यतः अंग्रेजी के माध्यम से होता है । अंग्रेजी के माध्यम से तो जो पाश्चात्य देशो मे हुआ या हो रहा है, वही चिंतन सामने आयेगा । इसीलिए पूज्य गुरुदेव कहते है कि शिक्षा का भारतीयकरण होना चाहिए । भारतीय विद्याओ का भी आज की शिक्षा मे समावेश होना चाहिए । सुना है—इलाहाबाद युनिवर्सिटी में एक ऐसा डिपार्टमेट बना है, जो प्राचीन भारतीय विज्ञान पर खोज करेगा । इस सन्दर्भ मे कुछ साहित्य वहां से निकलना शुरू हुआ है । वहां के कुछ विद्वान हमसे मिले थे और उन्होने बताया कि ऐसा काम हम वहां कर रहे है । इस संदर्भ मे वे हमारा सहयोग चाहते थे । वस्तुतः प्रकंपन का सिद्धान्त भारतीय दर्शन ने हजारो वर्ष पूर्व प्रस्तुत किया है । यदि हम भारत की आत्मा से जुड़े तो हमे ऐसी अनेक सचाइयों का साक्षात्कार होगा । विज्ञान जो कह रहा है, उस सत्य को भारतीय वैज्ञानिक हजारो वर्ष पहले उद्घाटित कर चुके थे । हम अपनी संपदा को पहचाने तो इस सदर्भ में वहुत समृद्ध बन सकते है ।

प्रश्न—आचारशास्त्रीय दृष्टि से अच्छे मानव का प्रारूप क्या हो सकता है?

उत्तर—आचारशास्त्रीय दृष्टि से समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था आदि के संदर्भ में हम देखे तो अणुव्रत की आचार-संहिता सामने आती है, वह अच्छे आदमी का एक पूरा प्रारूप हमारे सामने प्रस्तुत करती है ।

प्रश्न—फाइव स्टार होटल में रहना पसंद करने वाला व्यक्ति आंतरिक परिवर्तन की साधना कर पाएगा?

उत्तर—आतरिक परिवर्तन पर हमारा ध्यान नही गया इसीलिए व्यक्ति फाइव स्टार होटल में रहना चाहेगा । अगर संन्यासी है और वह आन्तरिक परिवर्तन की साधना करता है तो उसका जीवन भिन्न प्रकार होगा । आप देखेगे कि हम लोग जहा वैठते हैं, वहा पखा भी नही चलता, एयरकंडीशनर की तो बात ही दूर है । भीतरी सवेगो का जब तक परिवर्तन नही करेगे, तब तक फाइव स्टार होटल मनुष्य के दिमाग मे घूमता रहेगा वस्तुत. व्यक्ति फाइव स्टार होटल मे नही रहता, उसके दिमाग मे फाइव स्टार होटल रहती है ।

राजा ने संन्यासी से कहा — 'आप भी महल मे रहे और मै भी महल मे रहा फिर फर्क क्या रहा?' संन्यासी ने कहा—'कुछ ज्यादा फर्क नही रहा । फर्क बस इतना रहा कि मै तुम्हारे महल मे रहा और महल तुम्हारे मन मे रहा ।'

दिमाग से यह महल कैसे निकले, उसके लिए साधना की पद्धति थी । ऐसा अभ्यास करो तो परिवर्तन आयेगा । आज पुन. इस सचाई को जीने की जरूरत है। ऐसा होने पर ही आतरिक परिवर्तन की साधना के प्रति आकर्षण बढ़ेगा ।

प्रश्न—सर्जन और विसर्जन के संदर्भ में महावीर, गांधी, मार्क्स और केनिज के विचार क्या हैं? विसर्जन को किस रूप में लेना चाहिए?

उत्तर—महावीर का सारा चितन विसर्जन पर चलता है । अर्जन की कोई पद्धति महावीर नही बतलाते । वे विसर्जन से अपनी बात शुरू करते है । अर्जन तो मनुष्य की प्रकृति है, आवश्यकता है, विवशता है, वह तो मनुष्य करेगा ही, किन्तु अर्जन के बाद विसर्जन कैसे करना है, महावीर यहा से अपनी बात शुरू करते है । गाधी जी आध्यात्मिक के साथ राजनीतिक व्यक्तित्व भी थे । वे विसर्जन की बात करते है ट्रस्टीशिप के रूप मे और अर्जन की बात करते है सर्वोदयी व्यवस्था के रूप मे । उनके ये दोनो रूप है ।जो मार्क्स का चितन है वह सारा विसर्जन का है । अर्जन वहां है ही नही । सारी संपदा राज्य की है । अर्जन की कोई बात ही नही है । इस अर्थ मे महावीर के साथ उनकी बड़ी समानता दिखाई देती है । केनिज की दृष्टि मे विसर्जन की कोई बात नही है, केवल... अर्जन और अर्जन ही उनका सूत्र रहा । अर्जन को इतना बढ़ाओ, जहां कोई सीमा ही न हो ।

हम विसर्जन को सहयोग के रूप मे ले । अर्जन हो, फिर उसी के अनुपात मे विसर्जन हो ।

प्रश्न—आर्थिक विकास की योजना के अभाव में क्या कोई नैतिक आन्दोलन हमारे देश में सफल हो सकता है?

उत्तर—यद्यपि नैतिकता शुद्ध आध्यात्मिक प्रश्न्क फिर भी इसे सामाजिक परिस्थितियो, आर्थिक व्यवस्थाओ से कभी अलग नही किया जा सकता । जहां आर्थिक विकास होता है, वहा अनैतिकता नही होती, ऐसा नही है, फिर भी आर्थिक अभाव की स्थिति मे अनैतिकता पनपने को अधिक अवकाश रहता है । अधिक संभावनाएं रहती है । गरीव आदमी अधिक अनैतिक हो सकता है । हम मूल कारण को बदलना चाहते है, उसके साथ-साथ निमित्तो को बदलने की बात को गौण नही कर सकते । दोनो बातें साथ चले । आर्थिक व्यवस्था सुधरे और साथ-साथ नैतिक विकास हो तो दोनो मे वहुत अच्छा संतुलन वन सकता है और स्थिति ठीक हो सकती है । इसलिए यह अपेक्षा है कि राजतंत्र और धर्म-तत्र दोनो मे योग होना चाहिए, दोनो मे समन्वय होना चाहिए । आज कठिनाई यही है कि दोनो मे समन्वय नही है । राजतन्त्र को क्षमता प्राप्त

है, आर्थिक व्यवस्था को सुधारने की किन्तु वह आर्थिक व्यवस्था सुधारने पर भी नैतिकता का विकास कर सके, ऐसी क्षमता उसके पास नही है। उस तत्र मे यह अर्हता भी नही है कि उसके द्वारा नैतिकता का विकास किया जा सके। धर्म-तत्र के पास नैतिकता के विकास की क्षमता है, किन्तु उसके पास आर्थिक व्यवस्था को सुधारने की शक्ति नही है। इसलिए दोनो मे अधूरापन है। जो राजतंत्र व्यवस्था को बदल सकता है, उसके पास दण्ड की शक्ति है। जो हृदय को बदल सकता है, आत्मानुशासन विकसित कर सकता है, उसके पास दण्ड की शक्ति नही है। इसलिए नैतिकता का काम सर्वमान्य हो सके, यह नही कहा जा सकता और दण्डशक्ति का काम बाध्यता से मान्य होने पर भी वह हृदय को बदल सके, ऐसा भी नही कहा जा सकता। मुझे लगता है कि इस समस्या का सरल समाधान यही हो सकता है कि राज्य-शासन और धर्म-शासन— दोनो मे समन्वय साधा जा सके। समन्वय की अपेक्षा दोनो अनुभव कर सके तो एक ओर आर्थिक व्यवस्था के सुधार की प्रक्रिया चले और दूसरी ओर आर्थिक विकास के साथ-साथ आने वाली विकृतिया, अर्थ के अभाव मे आने वाली विकृतिया जो है, उन विकृतियो की ओर जनता का ध्यान बराबर आकर्षित किया जाता रहे। अगर ऐसा समन्वय होता है तो समस्या का समाधान लगता है अन्यथा यह प्रश्न बना ही रहेगा।

प्रश्न—परिग्रह पर सबसे अधिक बल देने वाले जैन लोग धनाढ्य कहे जाते है। अपरिग्रह में से संग्रह का धर्म कैसे प्राप्त हो जाता है?

उत्तर—प्रकाश मे से अंधकार कैसे निकलता है, यह प्रश्न जब सामने आता है तो फिर सोचने के लिए कुछ शेष नही रह जाता। प्रकाश और अधकार मे कोई सम्बन्ध ही नही है। किन्तु कभी-कभी भ्रान्ति हो जाती है और भ्रान्तिवश यह प्रश्न भी पूछ लिया जाता है।

अपरिग्रह मे से परिग्रह कभी नही निकलता। जैन धर्म अपरिग्रहप्रधान भी है, अहिसाप्रधान भी है, अनेकान्तप्रधान भी है, सब कुछ है, वह तो सिद्धान्त है। अनेकान्त एक सिद्धान्त है। अपरिग्रह एक सिद्धान्त है। अहिसा एक सिद्धान्त है। सिद्धान्त होना एक बात है, उसका पालन होना दूसरी बात है।

सिद्धान्त अपनी उच्च भूमिका मे प्रतिष्ठित होता है। उस तक पहुचने के लिए कितनी लम्बी यात्रा करनी होती है। यह भी हम जानते है। एक व्यक्ति अभी चला। चल सकता है, पहुच सकता है। इसी क्षण चला और इसी क्षण वह मंजिल तक पहुंच जाएगा, यह मान लेना एक बहुत बडी भ्रान्ति है। आज कोई धर्म का आचरण शुरू करता है, जैन बनता है और जैन बनते ही वह अपरिग्रह तक पहुंच जाएगा, यह तो

बहुत आश्चर्य की बात है। अगर ऐसा हो, चुटकी मे ही सारा सध जाए, जैन बनते ही अपरिग्रही बन जाए, तब तो धर्म की यात्रा इतनी छोटी है, साधना की यात्रा इतनी छोटी है कि जब व्यक्ति चाहे, जब साधना का सपना देखे और सिद्धि तक पहुंच जाए। कुछ करने की जरूरत ही नही। मुझे आश्चर्य है कि यह भ्रम पलता है और कैसे चलता है?

जैन समाज एक सिद्धान्त को मानकर चलता है कि अपरिग्रह उनका एक आदर्श है और लक्ष्य है। यहां तक उन्हे पहुंचना है। मुनि के लिए भी ठीक बात है। वह अपरिग्रही होता है, सब कुछ छोड़ देता है। किन्तु समाज के लिए तो अपरिग्रह एक सिद्धान्त है, उसके लिए कोई मंजिल नही है। समाज अपरिग्रह के आदर्श को सामने रखकर इच्छा-परिमाण का अणुव्रत स्वीकार करता है।वह इच्छा पर थोडा-थोड़ा नियमन शुरू करतां है ।जो मुक्त इच्छा है, उसे कम किया जाए और कम किया जाए और कम किया जाए तो वह इच्छा-परिमाण की दिशा मे प्रस्थान करता है। उस दिशा मे गति होती है और गति होते-होते जो लोग अंत तक पहुंच जाते है, फिर वे अपरिग्रह तक भी पहुच सकते है। किन्तु पूरा जैन समाज अपरिग्रह तक पहुच जाएगा, इसका अर्थ तो यह हो गया है कि सारा समाज मुनि बन जाएगा, संन्यासी बन जाएगा।

भगवान् महावीर ने मुनि के लिए अपरिग्रह का विधान किया है, गृहस्थ के लिए उन्होने अपरिग्रह जैसे शब्द का प्रयोग नही किया। उन्होने इच्छा-परिमाण की बात कही। श्रावक को इच्छा-परिमाण करना चाहिए। जो अनन्त इच्छा है, उसकी कोई न कोई सीमा करनी चाहिए।

सीमा के लिए उन्होने दो बाते बतलायी। पहली बात—अर्जन के साधन अशुद्ध नही होने चाहिए, अप्रामाणिक नही होने चाहिए। महावीर की पूरी आचार सहिता है गृहस्थ के लिए। उसमे अप्रामाणिकता के जितने व्यवहार है, उन सबका वर्जन किया है। मिलावट, असली वस्तु दिखा कर नकली वस्तु दे देना, धोखाधडी करना, धरोहर हड़पना आदि-आदि अप्रामाणिकता के जितने सूत्र है, साधन है, वे सब वर्जित है।

दूसरी वात है— अर्जित धन का उपयोग अपने विलास के लिए न किया जाए। व्यक्तिगत संयम किया जाए।

ये दोनो वाते होती है तो फिर कितना ही कमाए, इस पर कोई नियंत्रण नही होता। एक व्यक्ति शुद्ध साधन के द्वारा कमाता है। हो सकता है कि लाख रुपया भी मिल जाए, करोड़ रुपया भी मिल जाए। कमा लेने पर उसका उपयोग वह अपने लिए नहीं करता, अपने लिए पूरा सयम वर्तता है। जैसा आनन्द श्रावक का जीवन था। करोड़ो

की संपदा, करोड़ो का व्यापार किन्तु अपने लिए बहुत संयमी। इतना सीधा-सादा जीवन कि जो एक सामान्य आदमी भी नही रख पाता।

ये दो शर्ते है गृहस्थ के लिए अपरिग्रह की प्रारम्भिक भूमिका की, ये दोनो महत्त्वपूर्ण है। जैन समाज इन दोनो बातो को स्वीकार करे तो एक बहुत बड़ी भ्रान्ति मिट सकती है।

पर मुझे लगता है कि कोई भी समाज धर्म का अनुयायी होता है, धर्म का सहयात्री नही होता। प्रत्येक धर्म की यही स्थिति है।लोग धर्म के पीछे चलते है, धर्म के साथ नही चलते। अब उन अनुयायियो से यह अपेक्षा रखना कि अपरिग्रह का सिद्धान्त फलित हो, यह मुझे संभव नही लगता है।

प्रश्न—मांसाहार का निषेध न करने वाले मोहम्मद साहब ब्याज को हराम बताते हैं और अहिंसा में विश्वास करने वाले जैन लोग ब्याज का धंधा करते हैं। ऐसा क्यों?

उत्तर—ब्याज के विषय मे जैन साहित्य मे दोनो प्रकार की बाते मिलती है। जैन श्रावक ब्याज का व्यवसाय करते थे, ऐसा भी मिलता है और ब्याज को महाहिसा मानने वाले व्यक्ति भी मिलते है। आचार्य जिनसेन ने ब्याज को महाहिसा का आरम्भ बतलाया है और उसको श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य बतलाया है। दोनो प्रकार की बाते मिलती है। ब्याज एक उलझा हुआ प्रश्न है। इसके दो पहलू है — एक सहयोग का पहलू है, दूसरा शोषण का पहलू है। जैसे असमर्थ लोगो को सम्पत्ति न मिले तो बहुत बड़ी कठिनाई होती है। एक उपाय था कि असमर्थ लोगो को सम्पत्ति उपलब्ध करायी जाए और बदले मे थोड़ा-बहुत ले लिया जाए। इस प्रेरणा से लोग दूसरो को सपत्ति देते और असमर्थ लोग अपना काम चलाते। यही प्रारम्भिक प्रेरणा ब्याज की रही होगी। यह सहयोग का पहलू है। इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु प्रवृत्ति का जब विकास होता है, तब प्रारम्भिक प्रेरणा बदल जाती है और नयी-नयी प्रेरणा जाग जाती है। सहयोग की प्रेरणा समाप्त हो गयी और स्वार्थ की प्रेरणा बलवान् बन गयी। ब्याज देते-देते इतना शोषण शुरू हो गया कि उस बेचारे असमर्थ की असमर्थता का दुरुपयोग होने लग गया। विवशता का महान् दुरुपयोग हुआ। इस दृष्टि से ब्याज बहुत निन्दनीय बन गया।

मोहम्मद साहब ने ब्याज का निषेध किया, उस भूमिका मे उन्होने बिल्कुल ठीक किया। क्योकि उस काल मे, मध्य युग मे, व्यापार सहयोग की प्रेरणा को भुला चुका था। ब्याज का सारा धधा शोषण पर प्रतिष्ठित हो गया था। उस स्थिति को उन्होने देखा और उसका निषेध किया। आज भी बैंकिंग का धंधा चलता है, वह पूरा व्यवसाय

एक ब्याज का ही धधा है। वह सामुदायिक है, इसलिए शोषण वाली बात नही है। परिष्कृत रूप है। इसलिए उस ओर किसी का ध्यान नही जाता। जो लोग ब्याज का निषेध करने वाले है, वे भी उसका उपयोग करते है।

इन दोनो दृष्टियो से जब मै सोचता हू तो मुझे लगता है कि ब्याज सर्वथा परिहार्य ही है, ऐसा भी नही कहा जा सकता और सर्वथा वांछनीय है, ऐसा भी नही कहा जा सकता। यदि पद्धति का परिष्कार हो, सहयोग की प्रेरणा को पुन. कोई जगा सके तो इसकी उपयोगिता को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। इसके साथ मे जो शोषण की बात जुड़ गयी है, वह चलती रहे तो ब्याज की वर्जनीयता को भी अस्वीकार नही किया जा सकता।

हमने देखा है, जहां इतनी विवशता और वर्जना हो जाती है कि बहुत ही गहरा शोषण होता है। बाध्य होकर उन्हे सारा चुकाना भी पड़ता है। यह स्थिति बिल्कुल अवाछनीय है। हमे दोनो पहलुओ से विचार कर इस पर चिन्तन प्रस्तुत करना चाहिए और वर्तमान समस्या के सदर्भ मे इस प्रश्न को उजागर करना चाहिए कि ब्याज के साथ जो वैयक्तिक स्वार्थ और शोषण जुडा है, वह ब्याज से निकल जाए। अगर यह निकल जाता है, केवल सहयोग जैसा सूत्र-सबंध रहता है, जैसा कि आज बैंकिग का हो रहा है तो मुझे लगता है कि इसे सर्वथा त्याज्य मानने जैसी बात भी व्यवहार की भूमिका पर नही आती।शायद इसीलिए भगवान् महावीर ने जहां अप्रामाणिकता के सारे स्त्रोतो का निषेध किया, वहा ब्याज का कोई उल्लेख नही किया। ऐसा लगता है कि उस समय यह पहलू इतना स्पष्ट नही था और केवल सहयोग के आधार पर ही सारा काम चलता था। मध्यकाल की परिस्थिति ने इस प्रश्न को यह रूप दिया और उस दृष्टि से मोहम्मद साहब के कार्य को बहुत औचित्यपूर्ण माना जा सकता है। उन्होने एक शोषणपूर्ण कार्य के प्रति चेतना जगायी। जैन समाज के लिए पूर्वकालीन प्रश्न है, मध्यकालीन प्रश्न है और आज का प्रश्न है। आज के युग के संदर्भ मे जैन समाज के सामने प्रश्न यही है कि उसकी उपयोगिता को समाप्त करने की दिशा मे नही किन्तु उसके साथ जो शोषण जुड़ गया है, उस शोषण को समाप्त करने की दिशा मे कोई कदम उठे।

प्रश्न—अहिंसा से अपरिग्रह फलित होता है या अपरिग्रह से अहिंसा फलित होती है?

उत्तर—अहिंसा परमो धर्म. का घोष जैन धर्म का महान् घोष माना जाता है। इसमे कोई सचाई नही है, यह मै कैसे कहू, पर मैं इस सचाई को उलट कर देखता हू। 'अपरिग्रह. परमो धर्म:' यह पहली सचाई है और अहिंसा परमो धर्म. यह इसके बाद

होने वाली सचाई है। यह सर्वथा मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य हिसा के लिए परिग्रह का सचय नही करता, किन्तु परिग्रह की सुरक्षा के लिए हिसा करता है। जैसे-जैसे अपरिग्रह का विकास होता है, वैसे-वैसे अहिसा का विकास होता है। परिग्रह का केन्द्र-बिन्दु मनुष्य का अपना शरीर होता है। वही से परिग्रह की चेतना फैलती है। धार्मिक व्यक्ति धर्म की साधना को कायोत्सर्ग या देहाध्यासमुक्ति से प्रारम्भ करता है। शरीर का ममत्व जैसे-जैसे कम होता है, वैसे-वैसे परिग्रह की मूर्च्छा कम होती जाती है। शरीर की मूर्च्छा त्यागने वाला ही अल्पवस्त्र या अवस्त्र हो सकता है।

मनुष्य चेतनावान् प्राणी है। चेतना यात्रिक नही होती, इसलिए सब मनुष्य समान नही होते। उनमे रुचि, विचार, चिन्तन और सस्कार की भिन्नता होती है, इसलिए अचेतन जगत् की भाति चेतन जगत् के लिए कोई सार्वभौम नियम नही बनाया जा सकता। अपरिग्रह-प्रधान-धर्म को मानने वाले सभी अपरिग्रही हो जाते है—इस सभावना मे सचाई नही लगती। अपरिग्रह सिद्धान्त को मानकर चलने वालो मे से कुछ लोग अपरिग्रही निकल सकते है, किन्तु सब के सब अपरिग्रही हो जाए—यह सभव नही है। हमारा चिन्तन इसलिए उलझता है कि हम धर्म के अनुयायी और धार्मिक को एक ही तुला पर तोलने लगते है। धर्म का अनुयायी वह होता है, जो धर्म को अच्छा मानकर चलता है, किन्तु उसका आचरण करने मे सक्षम नही होता। धार्मिक वह होता है, जो धर्म के सिद्धान्तो को अच्छा भी मानता है और उसका आचरण करने मे सक्षम भी होता है। जैन धर्म के अनुयायी सभी अपरिग्रही होगे, ऐसी कल्पना अतिकल्पना होगी।

लोग धर्म की प्रभावना करने वाली प्रवृत्तियो मे रस ले सकते है, धर्म के आचरण मे उतना रस नही ले सकते। वे धर्म की व्यावहारिक भूमिका पर कार्य कर सकते है, किन्तु धर्म की आत्मा का स्पर्श नही कर सकते। यह दो ध्रुवो की दूरी मनुष्य की आतरिक क्षमता से उत्पन्न दूरी है। इनके बीच मे सिद्धान्त का सूत्र जुडा हुआ है, इसलिए अनुयायी वर्ग भी कुछ-कुछ सयम का अभ्यास करता है, पर वह व्रती जीवन नही जी पाता। वास्तविकता को हम अस्वीकार न करे। धर्म के अनुयायियो, धर्म के प्रति सम्यग् दृष्टि रखने वालो और धार्मिक या व्रती जीवन जीने वालो से एक प्रकार की अपेक्षा न रखे।

महावीर और अर्थशास्त्र

महावीर का अर्थशास्त्र प्रवचनमाला पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी के सानिध्य मे सम्पन्न हुई। प्रव्चन माला का समापन अणुव्रत अनुशास्ता के मंगल उद्बोधन से होता। उनके उद्बोधन एक नई दृष्टि लिए हुए थे। प्रस्तुत अध्याय मे अणुव्रत अनुशास्ता के उन्ही महत्त्वपूर्ण विचारो का आकलन है।

आज जो कहा जा रहा है, वह पचास वर्ष पहले कहा जाता तो लोग सुनने को तैयार नही होते। ऐसा इसलिए कि आज लोग इतनी दुविधा मे फंस गए है कि कही शान्ति नही है। वें खोज रहे है कि कही से शान्ति का रास्ता मिले। कवि ने कहा है—

नीकी पै फीकी लगे, बिना समय की बात।
जैसे योद्धा युद्ध में नहिं सिंगार सुहात॥

योद्धा के सिंगार की बात अच्छी है, किन्तु वह समय पर होनी चाहिए। युद्ध मे शास्त्र धारण करके जाते समय शृंगार-प्रसाधन करना समयोचित बात नही है। इसलिए आज की हमारी यह बात सामयिक है और निश्चय ही सबको अच्छी लगेगी।

संगति कैसे हो?

प्रश्न होता है—महावीर और अर्थशास्त्र—इसकी संगति कैसे बैठेगी? महावीर वीतराग है, तीर्थंकर है, राग से विमुक्त है, वे अर्थशास्त्र की बात कैसे करेगे? हम सिद्ध महावीर की बात नही कर रहे है, साधक महावीर की बात कर रहे है। सिद्ध महावीर अर्थ की बात नहीं करेगे। महावीर तीर्थंकर है तो भी वे साधना मे हैं। उस समय महावीर हर बात कहने के अधिकारी है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा—

एतच्च सर्व सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मनः॥

तीर्थंकर ऋषभदेव ने युगानुकूल मार्गदर्शन दिया— कृषि कैसे करनी चाहिए, हाथ मे कैसे लेनी चाहिए, श्रम कैसे करना चाहिए, उपार्जन कैसे करना चाहिए,

विवाह कैसे करना चाहिए — ये सारी बाते बतलायी । वे जानते थे कि ये बाते सावद्य है, किन्तु उन्होने इन सबको सावद्य मानते हुए भी अपना कर्तव्य मानकर लोकानुकम्पा से इनका प्रतिपादन किया । महावीर ने भी ऐसा ही किया । उन्होने कहा—सबके सब साधु नही है, साधक नही है, ससारी है । उनका पथदर्शन अगर हम नही करेगे तो कौन करेगा ?

महावीर ने गृहस्थ के लिए महाव्रत की बात नही कही, अणुव्रत की बात कही । त्याग की बात नही कही, सीमित भोग की बात कही । यह उनकी अनुकपा है । इस दृष्टि से महावीर का अर्थशास्त्र— इस कथन मे सगति है ।

शाश्वत के प्रवक्ता

वैज्ञानिक भी चितक है और महावीर भी चितक है । कभी कभी यह देखकर आश्चर्य होता है कि वैज्ञानिक कहा से कहा पहुच जाते है । आश्चर्यचकित कर देने वाली है वैज्ञानिको की खोजे । अन्तर एक ही है—वैज्ञानिको का चिंतन बहुत गहरा होकर भी तात्कालिक है, त्रैकालिक नही है । महावीर का चितन त्रैकालिक है । वैज्ञानिको का चिंतन त्रैकालिक होता तो फ्रिज की बात न आती । जब चाहे वस्तुओ को ठण्डा या गर्म रखने वाली मशीन का आविष्कार नही होता । आज इनकी व्यर्थता सामने आ गई है । क्योकि ये तात्कालिक हैं, त्रैकालिक नही हैं । जितनी भी चीजे वैज्ञानिको ने आविष्कृत की है, मुझे लगता है कि वे तात्कालिक है । कुछ काल के पश्चात् उनकी निरर्थकता हमारे सामने आ जाती है ।

महावीर ने हजारो वर्ष पहले जो बात कही, वह आज भी हमारे बडे काम की है, आगे भी रहेगी । उन्होने यंत्रो के आधार पर अन्वेषण नही किया, आत्मा के आधार पर किया, अनुभूति के आधार पर किया । यत्र भौतिक है, अनुभूति आत्मिक है । आत्मिक अनुभूति त्रैकालिक होगी, तात्कालिक नही होगी ।

कहा गया— इच्छाओ का नियंत्रण करे । इस बात को लोग कभी बकवास मानते थे । कल्पना करना छोड़ दो, यह कहना कितनी मूर्खता की बात है । इसस तो देश का विकास ही अवरुद्ध हो जायेगा । लोग कहते — आप अपने श्रावको को प्रेरणा नही देते, ये सब ऐसे ही रह जाएगे । आज चारो ओर से आवाज उठ रही है कि सीमा होनी चाहिए ।

अध्यात्म और भौतिकवाद का समन्वय

महावीर ने अध्यात्म और भौतिकवाद का समन्वय किया । प्राचीनकाल मे

प्रश्न उठता था— 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। क्या जगत् को मिथ्या माने, जो सामने दीख रहा है ? जो चीज सामने दिखाई दे रही है, वह मिथ्या कैसे हुई ? महावीर ने कहा—भौतिकवाद सत्य है और आत्मा भी सत्य है। क्या पुद्गल सत्य नही है ? जीवन सत्य है तो क्या मृत्यु सत्य नही है ? दोनो सत्य है।

महावीर ने जो कुछ कहा, अनुभूति के आधार पर कहा। उन्होने कहा—एक साथ किसी को आध्यात्मिक बनाना चाहोगे, असफल हो जाओगे।उसे इस दिशा में धीरे-धीरे आगे बढ़ाओ। उसकी भूख को बढ़ाओ, ज्ञान-पिपासा को तेज करो, अपने आप काम हो जायेगा।वस्तुतः आज के भटके हुए मानव को रास्ता दिखाने की बड़ी अपेक्षा है। आज सारा संसार आर्थिक बन रहा है। अर्थ ही प्रधान है, इस मनोवृत्ति को कैसे बदले ? इस दिशा मे निरन्तर प्रयत्न होना चाहिए।

विकास की अवधारणा

अर्थ-विकास भी एक विकास है। विकास की अपनी-अपनी अवधारणा है। हम कोई नियम किसी पर थोप नही सकते। कहा जा रहा है—कोई व्यक्ति दरिद्र नही रहना चाहिए, किन्तु धनकुबेर क्यो बने ?

एक दरिद्र व्यक्ति किसी राजा के पास गया। जाकर बोला—'राजन् ! मैं सिद्ध हो गया हूं। मै सबको देखता हूं, मेरी ओर कोई नही देखता।

रे दारिद्र्य नमस्तुभ्यं, सिद्धोहं त्वत्प्रसादतः।
सर्वानहं च पश्यामि, मां न पश्यति कश्चन॥

दारिद्र्य तुझे नमस्कार है। तेरी कृपा से मै सिद्ध हो गया हूं। मै सबको देखता हूं, किन्तु मुझे कोई नही देखता।

ऐसा दारिद्र्य हम नही चाहते और दरिद्र आदमी धार्मिक भी शायद नही बन सकेगा। खाने को रोटी नही है, तो धर्म क्या करेगा ? हमारा चिंतन न तो आर्थिक दारिद्र्य का है और न धन को बढ़ाने का है।

आवश्यकता पूर्ति सबकी होनी चाहिए, किन्तु जहां औरो के स्वार्थ की बलि हो, ऐसी आर्थिक सम्पन्नता कभी भी काम्य नही होगी और न होनी चाहिए। समय-समय की अवधारणाए भिन्न-भिन्न होती हैं और भिन्न-भिन्न अवधारणाएं सामयिक होती है। तात्कालिक बात का आकर्षण ज्यादा होता है।

अर्थ किसलिए

अर्थ आखिर है किसके लिए? वह सुखी जीवन के लिए ही तो है। वह स्वयं को, परिवार, समाज और राष्ट्र को सुखी बनाए। चिन्तन तो यही है, किन्तु वह ज्यादा दुःखी बनता जा रहा है। ऐसी स्थिति मे फिर से एक बार विचार करना पड़ेगा। हम अर्थशास्त्र के विद्यार्थी नही है, धर्मशास्त्र के विद्यार्थी है। किन्तु हर शास्त्र दूसरे शास्त्र से जुड़ा हुआ है, इसलिए किसी अन्य विषय पर विचार करते समय अर्थ के विषय मे भी हम विचार करते है।

मात्र अर्थ से कोई सुखी नही बन सकता। भगवान् महावीर के पास दो व्यक्ति आए। एक सम्राट् श्रेणिक और दूसरा श्रावक पूनिया। सम्राट् श्रेणिक उस समय का सबसे बड़ा व्यक्ति था। उसकी सम्पत्ति का कोई पार न था। पूनिया श्रावक पूनी कात कर जीवन निर्वाह करने वाला व्यक्ति था। महावीर से पूछा गया — आपकी दृष्टि में महत्त्व सम्राट् श्रेणिक का है या पूनिया का? महावीर ने कहा—'दोनो का। सम्राट् श्रेणिक के कारण हजारो-हजारो व्यक्ति मेरे पास आएंगे। दूसरी ओर पूनिया जितना सतोषी और सुखी है उतना सुख और संतोष सम्राट् स्वप्न मे भी प्राप्त नही कर सकता।'

सुखी जीवन के सूत्र

हम चाहते है— मनुष्य का जीवन पूनिया की तरह शान्त, संतुष्ट और सुखी हो। इसी दृष्टि से महावीर ने कहा—हर व्यक्ति अर्थार्जन करते समय पांच बातो का ध्यान रखे—

किसी का बन्धन न हो।

किसी का वध न हो।

किसी का अंग-भंग न किया जाये।

किसी पर अतिभार न लादा जाये।

किसी की आजीविका का विच्छेद न किया जाए।

ये निर्देश सुखी जीवन के लिए है। इनके बिना कोई मनुष्य सुखी नही बन सकता।

चिन्तन बदले

अर्थशास्त्र की हमारी अवधारणा यह है कि अर्थ के विना आदमी जी नही सकता। अतिशय अर्थार्जन भी आदमी को सुख से जीने नही देगा। इस संदर्भ मे अल्पेच्छा,

अल्पारम्भ , अल्प परिग्रह का सिद्धान्त ही सही दृष्टि देने वाला है। गाधीजी इसका प्रयोग अक्सर किया करते थे। वे प्रयोक्ता थे, मात्र उपदेष्टा नही थे। अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर गांधी जी के पास आए। सेवाग्राम मे कुछ दिन रहने की इच्छा व्यक्त की। गांधीजी की स्वीकृति मिल गयी। वहा की गर्मी मे रह कर लुई फिशर की हालत खराब हो गयी। गांधीजी उसकी शक्ल देखकर समझ गए, बोले—तुम्हे एयरकंडीशन की जरूरत है, अभी लाता हू। पानी का एक बड़ा टब मंगाया, उसके पास दो स्टूल रख दिये। लुई फिशर स्टूल पर बैठ गया, उसने अनुभव किया—गर्मी शान्त हो गयी है। वह प्रसन्न हो गया।

चिंतन समयोचित होना चाहिए। हम मानते है, हर व्यक्ति अर्थ से परे नही हो सकता किन्तु अर्थ के बारे मे आज जो चिंतन चल रहा है, उसे बदलना होगा तभी वह सबके लिए सार्थक बन सकेगा।

हिंसा और अर्थ

एव प्रश्न है— अहिंसा और अर्थ—इनका आपस मे क्या संबंध है ? जहा अर्थ है, वहा हिसा अनिवार्य है। कहा भी गया है—'अर्थ अनर्थ का मूल है।' जितनी हिंसा होती है, अर्थ के लिए होती है। हिसा के लिए अर्थ नही होता। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के युद्ध के समय हम दिल्ली मे ही थे। उस समय दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ प्रोफेसर आए। उन्होने कहा—'आचार्यश्री ! आपके सामने तो बड़ी परेशानी खड़ी हो गयी होगी। इस समय भारत-पाक युद्ध चल रहा है और आप हिंसा को मानते नहीं है।' मैंने कहा—'आप क्या कह रहे है ? जैन राष्ट्र से अलग है क्या ? जो राष्ट्र की स्थिति है, वही जैनो की भी है। जैन लोग क्या सबके सब संन्यासी है ? क्या गृहस्थ नही है ? क्या उन्हे सुरक्षा की जरूरत नही हैं ? अर्थ है तो हिंसा सामने रहेगी। जैन सम्राट् हुए हैं, जैन सेनापति हुए है। उन्होने अनेक युद्ध लड़े हैं।' मेरी बात से उन्हे संतोष मिला।

जहां अर्थ है, वहां हिंसा और अशान्ति रहेगी। महावीर ने सीमा और सयम करने का निर्देश दिया। इससे ऐसा ब्रेक लग जाता है कि फिर इसके बढ़ने की संभावना नही रहती। पचास वर्ष पहले यह बात समझ मे नही आती थी, आज आ रही है क्योकि हिंसा और अशान्ति बहुत बढ़ गए है। इसके लिए सबसे बड़ा उपचार है सीमाकरण।

प्रश्न उपयोगिता का

यह दृष्टिकोण नही होना चाहिए—जो उपयोगी है, हम उसे ही स्वीकार करे।

उपयोगी को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु सभी उपयोगी बातो को स्वीकार कर लिया जाये, यह ठीक नहीं है। जो आज उपयोगी है, वह कल नही भी हो सकता है। उसका तात्कालिक उपयोग है, त्रैकालिक नही है। हम तात्कालिक चीजो पर ज्यादा ध्यान देते है, त्रैकालिक पर ध्यान नही देते है। जितने भी अर्थशास्त्री हुए है, उन्होने तात्कलिक पर ज्यादा ध्यान दिया। महावीर ने त्रैकालिक पर ज्यादा ध्यान दिया। संभव है कि वह बात, जो आज ठीक नहीं है, किन्तु आगे चलकर ठीक लगेगी, इसलिए हम त्रैकालिकता की बात को न भुलाए, उसका मूल्यांकन करे।

युद्ध अर्थ का

प्राचीनकाल मे तीन बातो को लेकर युद्ध होते थे—जर, जोरू और जमीन। आज स्थितियां बदल गई है। आज युद्ध केवल अर्थ का हो रहा है, व्यापार का हो रहा है। आज के अर्थशास्त्र पर हम अंकुश नही लगाएंगे तो चिरकाल तक शान्ति नही पाएंगे। शान्ति की जितनी बाते आज हो रही है, उतनी और कब होती थी? चारों ओर इसी के स्वर सुनाई दे रहे है किन्तु इसके लिए जो प्रयत्न होने चाहिए, नही हो रहे है। इसके लिए उत्पादन का सीमाकरण करना पड़ेगा, आयात-निर्यात का सीमाकरण करना पड़ेगा। उन वस्तुओं का उत्पादन बन्द करना ही पडेगा, जो देश को गड्ढे मे ले जा रहे हैं। मैं समझ नही पाता हूं कि ऐसी चीजो का उत्पादन क्यो किया जा रहा है? यह एक असंदिग्ध सचाई है— इन्हे रोके बिना शान्ति-व्यवस्था कायम नही हो सकती। गलत कार्य को रोके बिना सही काम नही हो सकता।

तीन प्रश्न

तीन प्रश्न हमारे सामने है:

- शान्ति अपेक्षित है या नही?
- स्वतन्त्रता प्रिय है या नही?
- पवित्रता और आनन्द चाहिए या नही?

यह कोई नही कहेगा कि ये तीनो हमे नही चाहिए। अगर चाहिए तो फिर साधन जुटाने पड़ेगे। संयम के बिना शान्ति नही मिलेगी। संतोष के बिना स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। पवित्रता के लिए साधन की शुद्धि करनी पड़ेगी। आनन्द चाहिए नो स्वस्थ रहना पड़ेगा। स्वस्थ केवल शारीरिक रूप से ही नही, मानसिक और भावात्मक रूप से भी रहना होगा।

महावीर ने अपने अर्थशास्त्र की सीमा मे कहा — कोई व्यक्ति चोरी न करे।

चोर को चोरी करने मे सहयोग भी न करे। चोर की चुराई हुई वस्तु नही खरीदे। उस समय इतनी बुराइयां नही थी, किन्तु त्रिकालज्ञ महावीर पांच हजार साल बाद की बुराइयो को अपनी आखो से देख रहे थे। इसीलिए महावीर ने भविष्य मे भी आदमी के सुखी रहने के गुर बताए। आज अगर सुख, शान्ति की अपेक्षा है तो उनके बताए सूत्रो का मूल्य आके।

सीमाकरण का विवेक

दो प्रकार के समाज हमारे सामने है—अनियंत्रित समाज और नियत्रित समाज। अब निर्णय आपको करना है कि आप कैसा समाज चाहते है? इस सदर्भ मे किसी से कुछ मत पूछिए, अपने मन से पूछिए। अगर आप दुःखी समाज चाहते है तो अनियंत्रित समाज तैयार है। सुखी और शान्त समाज चाहते है तो नियत्रित समाज की अपेक्षा है।

प्राचीनकाल मे मनुष्य के लिए समाज शब्द का प्रयोग हुआ है और पशुओ के लिए समाज शब्द का व्यवहार हुआ है— **समजस्तु पशूनां स्यात् समाजस्त्वन्य देहिनाम्।'** हम चिंतनशील मनुष्य है किन्तु यह कहना गलता नही है कि मनुष्य जितना अनियंत्रित है, उतना शायद कोई नही है।

प्राचीन ऋषियो ने कहा—'अग्नि मे कितना ही ईधन डालो, वह तृप्त नही होगी। समुद्र मे कितनी ही नदिया आकर गिरे, वह भरेगा नही। तब पदार्थो से हमारी आकांक्षा कैसे भर जायेगी?

समस्या यह है कि हम दूसरो को सीमा में देखना चाहते है, किन्तु अपनी सीमा नही करते। यह समय और विवेक का तकाजा है कि व्यक्ति स्वयं अपनी सीमा करे।

पर्यावरण और अर्थशास्त्र

पर्यावरण की समस्या सामने न आती तो मनुष्य कुछ चिंतन के लिए अवकाश ही न निकालता, अंधी दौड़ मे कभी रुकता ही नही। अब यह सोचना पड़ रहा है कि यह प्रदूषण न रुका तो मरने के सिवा और कोई चारा नही है। इसीलिए समस्या का आना भी एक दृष्टि से ठीक ही होता है।

आज पर्यावरण की समस्या गंभीर रूप धारण कर चुकी है। इसके बारे मे अभी हजारों वर्ष तक कुछ सोचना भी न पड़ता। आगमो मे हम पढ़ते थे — छठा आरा आयेगा तो ऐसा हो जायेगा, पर चिन्ता किसी को नही थी। आज के मनुष्य को तो साफ दीख रहा है — छठा आरा बिल्कुल सामने खड़ा है। पर्यावरण की समस्या

सामने है और मनुष्य अर्थशास्त्र मे उलझा हुआ है। वह निरन्तर सम्पन्नता के सपने ले रहा है, जबकि विपन्नता पर्यावरण के रूप मे उसके ठीक सामने खड़ी है।

सम्यक् दृष्टिकोण

हमारा दृष्टिकोण एकागी है और यह एकागी दृष्टिकोण ही सारी समस्याओ का मूल है। अनेकान्त की दृष्टि से सोचते तो समस्याओ मे इतना उभार न आता। मै जो सोचता हू, वह सच है और तुम जो सोचते हो, वह भी सच हो सकता है, ऐसा दृष्टिकोण जब तक नही बनेगा, हमारी समस्याओ का समाधान नही होगा।

महावीर ने कहा—'सब धर्मो का मूल है सम्यक् दर्शन और सब पापो का मूल है मिथ्या दर्शन। हिसा, असत्य, अब्रह्मचर्य, क्रोध, अहंकार पाप है, किन्तु सबसे बड़ा पाप है मिथ्यादर्शन। हिसा करने वाला स्वयं डूबता है, औरो को डुबोए या नही, किन्तु मिथ्या दृष्टिकोण वाला व्यक्ति लाखो को डुबो देता है। इसीलिए इस दृष्टिकोण को मिटाओ। आयारो मे कहा गया है—'सम्मत्तदंसी न करेइ पाव— सम्यक्दर्शी पाप नही कर सकता। व्यक्ति का एकागी दृष्टिकोण ही पर्यावरण की समस्या का मुख्य हेतु है।

विलासिता और क्रूरता

लोक आकाश पर टिका है, आकाश पर वायु और वायु पर जल टिका हुआ है, जल पर पृथ्वी टिकी हुई है और पृथ्वी पर हम प्राणी स्थित है। इतनी गहरी परते है इसकी। इन परतो के नुकसान का कोई सवाल ही नही था किन्तु मनुष्य इतना निर्मम और क्रूर बन गया कि वह मूल को ही खोदने लगा। धरती को ही नही, वह आकाश को खोदने का भी प्रयत्न करने लगा। इतना धन मनुष्य के पास था कि सात पीढ़ी खाती तो भी खत्म न होता। ऐसे घर हमने अपनी आखो से देखे है, जिनकी दीवारो मे भी सोना भरा पड़ा था, किन्तु वे बर्बाद हो गए। सब अपने ही हाथो से उनकी सतानो ने खो दिया।

हम विपन्नता के उपासक नही है, दारिद्र्य के उपासक नही है किन्तु एकांगी सम्पन्नता के उपासक भी नही है। सम्पन्नता विलासिता बढ़ाती है और विपन्नता क्रूरता बढ़ाती है। विलासिता और क्रूरता दोनो पाप है। हम मध्यम मार्ग के उपासक है। गाधी बहुत उच्च शिक्षाप्राप्त थे। वे बैरिस्टर थे, सब कुछ हासिल कर सकते थे। किन्तु उन्होने ऐसा नही किया। वे पक्के समाजवादी थे। कहते थे समाज को जब तक न मिले, अकेले क्यो खाऊं। एक बच्चे ने उनसे कहा—'आप यह छोटी-सी

लंगोटी क्यो पहनते है। मेरी मां आपके लिए अच्छी-सी पोशाक तैयार कर सकती है।' गाधी बोले—'एक पोशाक से काम नही चलेगा, तीस करोड़ पोशक हो, तब मैं पहनूं।'

तादात्म्य की अनुभूति

अपनी बात बताऊ। मैने संतो का एक सिंघाड़ा लोकोपकार के लिए सौराष्ट्र भेजा किन्तु वहा वातावरण कुछ ऐसा बना, उन्हे स्थान और रोटी मिलनी भी मुश्किल हो गयी। मुझे सूचना मिली, वहां संतो को आहार-पानी मिलने मे भी कठिनाई हो रही है। मन मे चितन आया, उन्हे वहां भेजकर मैने अच्छा नही किया और उसी समय संकल्प किया कि जब तक उन्हे पूरा आहार नही मिलता, मै भी पूरा आहार नहीं करूंगा। यह सकल्प मैने किसी के सामने व्यक्त नही किया। एक महीने बाद सूचना आई — सतो को अब आहार-पानी की पूरी सुविधा मिल रही है। वह सूचना मिलने पर मैने अपना सकल्प पूरा किया।

जहा व्यक्ति दूसरे के सुख-दुःख का अनुभव करता है, वहां स्वार्थ की वृत्ति व्यापक बनती है। 'मैं अकेला नही हू' यह भावना जितनी प्रखर होगी, उतना ही पर्यावरण की समस्या को समाधान मिलेगा।

गरीब कौन ?

एक प्रश्न है—गरीबी की परिभाषा क्या है ? किसको गरीब कहे ? अमीर कौन है और गरीब कौन है ? यह जानने की अपनी दृष्टि है। एक संस्कृत कवि ने लिखा—नीचे की ओर देखो, सब दरिद्र लगेगे। ऊपर की ओर देखो, स्वयं की दरिद्रता झलकेगी।

अधोऽधो पश्यतः कस्य महिमा नो गरीयसी।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्वमेव दरिद्र्ति ॥

अपने से ऊपर वाले को देखो तो लगेगा उससे ज्यादा वह गरीब है। लाख वाला करोड वाले के सामने गरीब है, करोड़ वाला अरब वाले के सामने गरीब है, अरबपति खरबपति के सामने गरीब है। ठीक ही कहा है ऊंचे से ऊचे को देखो तो नीचे वाले दरिद्र हैं। आप अपने नीचे देखे तो लगेगा हम सबसे ऊचे है। एक के हाथ में एक है और दूसरे के हाथ मे सौ है। इसकी मुकम्मल परिभाषा नहीं की जा सकती है कि कौन अमीर है और कौन गरीब है।

मुझसे पूछा जाए तो मै कहूंगा —गरीब वह है, जिसका मन गरीब है, जिसकी वृत्तिया गरीब है। एक मजदूर को देखे, दो रोटी खाता है, पानी पीता है और मस्ती की नीद सो जाता है। दूसरी तरफ दस लाख की मोटर मे बैठ कर चलने वाला मालिक, एयर कडीशन बगले मे सोता है, फिर भी नीद नही आती। अन्तर क्या है? उद्योगपति डालमियाजी की कोठी मे रहे, हमने देखा—खाते समय भी हाथ से फोन कान मे लगाए रहते थे। मन मे विचार आया— जीवन इतना व्यस्त और अशान्त, फिर यह धन किस काम आयेगा? उन्हे दरिद्र मानूं या सम्पन्न?

प्रश्न बेरोजमारी का

एक प्रश्न है बेरोजगारी का। बेरोजगारी कहां से आई है? इसका कारण है हमारी शिक्षा पद्धति। मै स्पष्ट कहता हूं, भारत की बेरोजगारी उसकी शिक्षा पद्धति की देन है। पहले हर वर्ग अपने-अपने काम मे मस्त था। किसान का बेटा खेती करता, कुम्हार का बेटा मिट्टी के बर्तन बनाता, लुहार का बेटा लोहे का काम सीखता। सब अपने-अपने काम मे लगे थे। शिक्षा का स्तर बढ़ा। उसके साथ-साथ सामाजिक परिवेश मे भी बदलाव आने लगा। पढ़-लिख कर लोग अपने पुश्तैनी धंधे से दूर होते गए। फिर परम्परागत धधे मे जुड़ने मे संकोच होने लगा। गांव शहर की ओर भागने लगा। यह सब वर्तमान शिक्षा की देन है।

सुरक्षा और सहयोग का

एक प्रश्न है सुरक्षा और सहयोग का। सुरक्षा कौन किसकी करता है? इस ससार मे कोई किसी की सुरक्षा नही कर सकता। सबकी अपनी-अपनी स्वार्थ की सुरक्षा है। विना स्वार्थ बाप बेटे की सुरक्षा नही करता, बेटा बाप की सेवा नही करता। यह स्वार्थवृत्ति कब मिटे? इस संसार मे जब तक काम, क्रोध, लोभ, मोह रहेगा, ये वाते रहेगी। अरबो की सम्पत्ति जिनके पास मे है मरने की अवस्था मे आने पर गोद लिया बेटा कहता है— बुला तो रहे हो, क्या सेठजी सचमुच मरने की स्थिति मे है? मरणासन्न स्थिति मे हो तो आऊं, वरना मुझे फुर्सत नही है। मरणासन्न सेठजी के पास कोई मक्खियां उड़ाने वाला भी नही है। कौन किसकी सुरक्षा करता है? धन्य है हमारे गुरुदेवो को, जिन्होने हमें सुरक्षा के प्रति निश्चिन्त बनाया है। छोटे से छोटे और निकम्मे साधु की भी सेवा की जाती है। क्यो की जाती है? गुरु को प्रसन्न करने के लिए नही, निर्जरा के लिए।

दुष्काल की स्थिति मे जब पशुधन समाप्त होने लगता है तब चारो ओर से पुकार

उठती है उनकी सुरक्षा और चारे-पानी के प्रबन्ध के लिए। किसलिए? पशुओ के लिए नही, अपने लिए। मर जाएंगे तो दूध-दही, मक्खन कहां से मिलेगा? खेती किससे होगी ? सारा स्वार्थ का मामला है। अकाल-दुष्काल तो कभी-कभी पड़ता है। मनुष्यो का दुष्काल तो हर समय चल रहा है। प्रतिदिन लाखो-करोड़ो लोग रोटी-पानी के लिए जूझ रहे है। इसके लिए वस्तुतः कोई चिन्ता नही हो रही है, कृत्रिम चिन्ता अवश्य हो रही है।

समाधान सूत्र

इस समस्या के दो ही समाधान है। पहला समाधान यह है, स्वयं अपने विचारो से गरीब और दरिद्र न बने। दूसरा समाधान यह है, इस बात की शिक्षा दी जाये कि अकेले आगे बढ़ने की कोशिश करोगे तो इस स्वार्थवृत्ति से तुम्हे बहुत नुकसान होगा इसलिए ऐसा मत करो।

दक्षिण यात्रा मे हमने देखा — समूचे दक्षिण मे जैन धर्म का बडा प्रभाव है। उत्तर भारत मे महाजन व्यापारी ही जैन है जबकि दक्षिण मे हर कौम जैन है। इसका कारण क्या है ? खोज की तो पता चला—वहां के जैन लोगो ने बड़ी दूरदृष्टि से काम लिया। उन्होने यह संकल्प किया—जो जैन होगा, उसे शिक्षा, चिकित्सा और रोजगार बराबर मिलेगा। कोई भूखा नही मरेगा, मकान के बिना नही सोयेगा। चिकित्सा के अभाव मे नही मरेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि पूरा दक्षिण जैन धर्म के प्रति आकृष्ट हुआ। जैन लोग यह दृष्टि हर जगह अपना ले तो ईसाई लोग यही तो करते हैं। वे अभावग्रस्त लोगो की पूरी मदद करते है। फलस्वरूप उन्होने अपनी सख्या बढ़ा ली। दूसरी ओर हिन्दू यह आपत्ति करते है कि धर्मान्तरण किया जा रहा है किन्तु केवल ऐसा करने से क्या होगा ? जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं भी जिनकी पूरी न हो रही हो, रोटी और कपडे के लिए भी जो मोहताज हो, वे मदद के लिए किसी न किसी का दामन तो थामेगे ही। अभी एक फाउण्डेशन बना है, उसका उद्देश्य यही है—हम हर आदमी को शिक्षा, चिकित्सा और आवास देने का प्रयत्न करेगे। यह काम आभार प्राप्त करने की दृष्टि से नही, सेवाभावना और साधर्मिक वात्सल्य की दृष्टि से होगा। जैन शासन में एक शब्द है साधर्मिकता। इस शब्द को अगर हम महत्त्व दे तो बहुत बड़ा काम हो सकता है, बेरोजगारी और गरीबी मिटाने मे बहुत सहायता मिल सकती है।

अणुव्रत ग्राम योजना

एक कल्पना की जा रही है अणुव्रत ग्राम योजना की। ऐसे अणुव्रत ग्राम तैयार किये जाए, जहा का कोई भी व्यक्ति बेरोजगार न रहे, भूखा न रहे, कोर्ट-कचहरी में न जाये। सबके सव प्रामाणिक और ईमानदारी का जीवन जीये। यह योजना थोडी-सी भी सफल हो गई तो यह न केवल धर्म की सफलता होगी, समाज की भी बडी भारी सफलता होगी। धर्म के लोगों ने कहा गरीबो को रोटी खिलाओ, पुण्य मिलेगा। गरीबो को भोजन करा कर पुण्य अर्जित करने की इस कामना पर आचार्य भिक्षु ने कड़ा प्रहार करते हुए कहा—किसी को भिखारी मान कर उसे रोटी खिलाना पाप है। उसे भाई मान कर, कर्तव्य मानकर, सहायता करने की दृष्टि से यह काम करो। वस्तुतः गरीवी कोई वहुत वड़ी समस्या नही है। विवेक से काम लिया जाये और वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से काम किया जाये तो इस पर काबू पाया जा सकता है।

पहले जीएं

हमने न महावीर को देखा, न गाधी, मार्क्स और केनिज को देखा। जिसे देखा न हो, उसके वारे मे विवेचन केवल वैचारिक दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से किया जा सकता है। हम सवसे अधिक परिचित और निकट महावीर के है क्योकि उनका जीवन जीते है, उनका दर्शन पढ़ते है, उनकी बात करते है। वे नही है, किन्तु उनका जीवन-दर्शन हमारे सामने है। महावीर केवल द्रष्टा और दर्शक नही थे। वे जो बोलते थे, उसको पहले जीते थे। यह उनकी विशेषता है। आयारो पढ़े, उनका पूरा जीवन-दर्शन मिलेगा। हम महावीर के अनुयायी है इसलिए हमारा प्रयास रहता है कि हम जो कुछ वोले, उसे पहले जीये।

स्वयं सत्य खोजें

महावीर की कोटि मे हम किसी दूसरे को कैसे लाएं? अगर न लाएं तो पक्षपात हो जायेगा। महावीर ने यह कभी नही कहा—वे ही सब कुछ है जो कुछ कह रहे है, वही सत्य है। उन्होने यही कहा— 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा— स्वयं सत्य खोजो। महावीर का खोजा हुआ सत्य अब बासी है, पुराना है। स्वय सत्य खोजो, यह कौन कहता है? यह महावीर कहते है। इससे एक दृष्टि मिलती है। उनके प्रति आकृष्ट होने के अपेक्षा हम उनके विचारो से आकृष्ट है। उन्होने कहा—तुम मेरे शब्दों के प्रति आकृष्ट मत वनो। सोचो, विचारो और ठीक लगे तव स्वीकार करो।

केवल श्रद्धा के कारण हम महावीर को नही मानते, द्वेष के कारण किसी के प्रति हमारी अरुचि नही है। हमने आप्तत्व की परीक्षा की है। हमे महावीर मे आप्तत्व लगा, इसलिए हमारा आकर्षण महावीर के प्रति है। उन्होने कहा महावीर नाम के व्यक्ति के प्रति तुम आकृष्ट मत बनो। भूल जाओ कि महावीर नाम का कोई व्यक्ति है। वे व्यक्ति पूजा के समर्थक नही थे।

इसी दृष्टि से हमे मार्क्स , केनिज और गांधी को भी देखे। गांधी मे भी कम महापुरुषत्व नही मिलता है। कभी-कभी मन मे आता है —क्या एक गृहस्थ व्यक्ति ऐसा हो सकता है ? ऐसा व्यक्ति, जो कहता है, वही करता है और जो कहता है, वही करता है। दु:ख-सुख को कोई महत्त्व ही नही देता। विशिष्ट व्यक्तित्व था वह। हम बड़े सम्मान के साथ उनके सिद्धान्तो के प्रति अपनी सहमति व्यक्त करते है।

मार्क्स का अवदान

मार्क्स ने भी बहुत कार्य किया है। मार्क्स न होते तो संसार की अंधश्रद्धा टूटती नही। गरीब अपने कर्मो से गरीबी भोग रहा है, उसमे कोई क्या कर सकता है ? उसके भाग्य मे ही ऐसा लिखा हुआ है—इस मान्यता को तोड़ना कोई छोटी-मोटी बात नही थी। महावीर ने ऐसा नही कहा था पर उनके अनुगामी जैन लोग भी ऐसा मानने लगे थे कि सब कर्मो का खेल है, इसमे कोई कुछ नही कर सकता। मार्क्स ने इस मान्यता को तोडा— कर्मो की गति मानकर क्लीब मत बनो। कर्म हम कर रहे हैं, हमको कर्म नही कर रहा है। कर्मो के करने वाले हम है तो तोडने वाले भी हम ही है। मानना पड़ेगा कि ऐसा विचार देकर मार्क्स ने मानव जाति का बड़ा कल्याण किया, शोषित और गरीब का उद्धार कर दिया।

हम कमियो को छोड़ दे, गुणग्राही बनें, यह हमारा दृष्टिकोण है।मार्क्स की विचारणा मे एक कमी रह गयी, जिससे वह असफल हो गया ।वह कमी यह रही —उसके विचारों के साथ अध्यात्म नही जुड़ा।.अहिंसा और अध्यात्म जुड़ जाते तो मार्क्स युग का महान् विचारक सिद्ध होता।कि उसने अहिंसा को भुला दिया। जैसे-तैसे लक्ष्य को प्राप्त करो, यह चिन्ता हावी हो गयी और इसीलिए साम्यवाद का प्रयोग असफल हो गया ।

सुख और सम्पन्नता

केनिज के विचार को भी सर्वथा असत्य नही कहा जा सकता। उसने सुविधा और सम्पन्नता का दर्शन किया— किन्तु इस तथ्य को भुला दिया। साधन और सुविधा

के मिल जाने पर भी सुख मिल जाये, यह जरूरी नही है। बड़े सम्पन्न व्यक्तियो को दुःख भोगते हुए हमने देखा है। सबके सब सम्पन्न हो जाएं तो भी विपन्नता रहेगी, वह मिटेगी नही।

स्वर्ग लोक से उतर कर इन्द्र और इन्द्राणी एक छोटे से ग्राम मे आए। गांव बड़ा दरिद्र था। वहां के निवासी फटेहाल और गरीब थे। इन्द्राणी को दया आ गयी। उन्होने इन्द्र से कहा—महाराज ! आप इन गरीबो का संकट काटे। बडा दुःख भोग रहे है। इन्द्र बोले—'तुम समझती नही। कोई सुखी बनाने से नही बनता। इन्द्राणी ने अपनी जिद नही छोड़ी स्त्री। हठ के आगे आखिर इन्द्र को भी झुकना पड़ा। इन्द्र ने गांव के घर और गलियां सोने-चांदी से भर दी। सवेरे लोग सोकर उठे, धन का चारो ओर अम्बार लगा देखा। लोगो ने अकूत धन अपने पास जमा कर लिया। कुछ ही देर मे सब सम्पन्न बन चुके थे।

कुछ दिनो बाद इन्द्र और इन्द्राणी पुनः वहा आए। गांव को सम्पन्न देखा। इन्द्राणी बहुत प्रसन्न हुई। किन्तु गांव के लोगो को इन्द्राणी ने दुःखी पाया। इन्द्र ने पूछा— दुःखी क्यो लग रहे हो ? एक व्यक्ति ने बड़ी निराशा से जवाब दिया—न जाने किसकी कुदृष्टि पड़ गयी इस गांव पर। यहां सबके पास सब कुछ है। सब मालिक हो गए, कोई नौकर नही मिलता। अपना धन हम किसे दिखाएं ? यहां तो सबके यहां रत्नो का भण्डार है। हम इतना धन पाकर सुखी नहीं, दुःखी है। इन्द्र ने इन्द्राणी की ओर देखा। बात इन्द्राणी की समझ मे आ चुकी थी।

यह बड़ी मार्मिक कहानी है। सम्पन्नता से किसी को सुख प्राप्त नही हो सकता। सुख अलग चीज है, सम्पन्नता अलग चीज है। हम इस बात को समझ ले तो अर्थशास्त्र का सारा क्रम बदल जायेगा।

महावीर, मार्क्स, केनिज और गांधी

महावीर, मार्क्स, केनिज और गांधी— ये सब दूरदर्शी थे, अपनी दृष्टि से दूर की वात सोचेते थे। दूरदर्शी होना भी एक बहुत बडी उपलब्धि है, बहुत बड़ा गुण है। उपनिषद् मे कहा है—'दीर्घं पश्य मा ह्स्वं, परं पश्यतु माऽपरम्।' कल क्या होगा ? यह क्या देखे। देखना है तो सौ वर्ष बाद क्या होगा, यह देखने की कोशिश करो। बड़ी बात को देखो। इस दृष्टि से जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे सचमुच दूरदर्शी थे। वे आज भी हमे प्रेरणा देते है कि तुम भी दूरदर्शी बनो।

इस संदर्भ मे हम इस बात को भूल जाते है— जब तक कषाय, नौ कषाय विद्यमान

है, दूरदर्शन काम नही करेगा । यह भी दूरदृष्टि से देखना चाहिए कि मनुष्य की स्थितिया कैसे बदले ? मनुष्य के कषाय कैसे बदले जा सकते है ? उसकी मनोवृत्तिया कैसे बदली जा सकती है, मनुष्य को ठीक कैसे किया जा सकता है ?

महावीर ने इस पर खूब चिंतन किया । गांधी ने भी किया । महावीर ने चिंतन किया तो हुआ क्यो नही ? हुआ हो या न हुआ हो, पर चिंतन तो उन्होने किया। उन्होने कारगार उपचार बताया, पर औषधि का सेवन कराना तो उनके हाथ की बात नही थी । महावीर ने कहा—अर्थ तुम्हारे लिए जरूरी है, किन्तु उसका त्याग भी जरूरी है । हिसा तुम्हारे लिए अनिवार्य है, किन्तु अहिंसा भी उतनी ही अनिवार्य है । परिग्रह आवश्यक है तो अपरिग्रह भी जरूरी है । ये बाते उन्होने बतलाई । इस दृष्टि से कहा जा सकता है—जितने भी महापुरुष हुए है, उन्होने अपनी-अपनी दृष्टि से युग की समस्याओ को समझा है और उनका समाधान दिया है ।

कषाय का अल्पीकरण करें

कषाय को कम करना साधुओ का ही काम नही है । प्राचीन धारणा थी योगी योग-साधना जगल मे करे, शहरो मे उनका क्या काम है । हमने इस दृष्टि को महत्व दिया— योग-साधना जंगल मे ही नही, शहर मे भी आवश्यक है, भीड़ मे भी आवश्यक है, यहां तक कि युद्ध मे भी आवश्यक है । वैज्ञानिक लोग प्रयोगशाला मे बैठे-बैठे अन्तरिक्ष मे घूमते उपग्रह का सचालन करते है । योगसाधना सबके लिए सब समय मे आवश्यक है । राष्ट्र नेता, समाजनेता, सस्थाओ के नेता इनके लिए तो कषायो को कम करना निहायत जरूरी है । इसीलिए कहा गया है कि आचार्य बनाने से पहले खूब बारीकी से निरीक्षण-परीक्षण कर लेना चाहिए । निर्धारित कसौटियो पर खरा उतरे तो बनाओ, अन्यथा नही । अर्थशास्त्र की दृष्टि से सोचे तो नियन्ता व्यक्ति अल्पकषायी तो होना ही चाहिए ।

आदमी अच्छा बने

एक बात निश्चित जान ले— जब तक मनुष्य नही बदलेगा, तब तक कुछ नही होगा । किसी के हाथ मे नही है मनुष्य को बदलना । ऋतु को बदल सकते है, प्रकृति को बदल सकते हैं, किन्तु मनुष्य को बदलना सहज नही है । मनुष्य को बदलना है तो बदलने के प्रक्रिया अपनानी होगी, दीर्घकाल तक प्रयोग और प्रयत्न करने पड़ेगे। बदलना असम्भव है, ऐसा तो नही कहा जा सकता किन्तु वह सहज और सरल भी नही है ।

बर्नार्ड शा ने एक जनसभा मे इस्लाम की बहुत तारीफ की। लोग मत्रमुग्ध होकर सुनते रहे। भाषण की समाप्ति के बाद एक व्यक्ति बोला, लगता है आप इस्लाम धर्म स्वीकार करने जा रहे है। बर्नार्ड शा बोले—स्वीकार तो जरूर कर लेता, किन्तु क्या करू, मुसलमान अच्छा नही है।

मैं भी कहता हू— सारे धर्म अच्छे है, किन्तु उनका अनुयायी मनुष्य अच्छा नही है। प्रयत्न हमारा यही है कि किसी तरह मनुष्य अच्छा बन जाये। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान और ये भाषणमालाएं— सब इसी दिशा मे किये जा रहे प्रयत्न है।

परिशिष्ट

१. महावीर वाणी : मूल स्रोत

❑ तए ण से आणदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलयं पाणाइवायं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए।

❑ तयाणंतर च ण इच्छापरिमाणं करेमाणे —

(१) हिरण्ण-सुवण्णविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ चउहि हिरण्णकोडीहि निहाण-पउत्ताहिं, चउहिं वड्ढिपउत्ताहि, चउहि पवित्थरपउत्ताहिं, अवसेसं सव्वं हिरण्ण-सुवण्ण-विहि पच्चक्खाइ।

(२) तयाणंतर च णं चउप्पयविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ चउहि वएहि दसगो-साहस्सिएण वएण, अवसेस सव्व चउप्पयविहि पच्चक्खाइ।

(३) तयाणतरं च णं खेत्त-वत्थुविहिपरिमाण करेइ —नन्नत्थ पंचहि हलसएहि नियत्तणसतिएण हलेण/अवसेस सव्व खेत्त-वत्थुविहि पच्चक्खाइ।

(४) तयाणतर च णं सगडविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ सगडसएहि दिसायत्ति-एहिं, पचहिं सगडसएहि, सवहणिएहि, अवसेस सव्वं सगडविहि पच्चक्खाइ।

(५) तयाणंतर च णं वाहणविहिपरिमाण करेइ—नन्नत्थ चउहि वाहणेहि दिसाय-त्तिएहिं, च चउहिं वाहणेहि संवहणिएहि, अवसेसं सव्व वाहणविहि पच्चक्खाइ॥

❑ तयाणतर च णं उवभोग-परिभोगविहिं पच्चक्खायमाणे —

(१) उल्लणियाविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ 'एगाह गधकासाईए', अवसेस सव्व उल्लणियाविहिं पच्चक्खाइ।

(२) तयाणतरं च णं दंतवणविहिपरिमाण करेइ—नन्नत्थ एगेण अल्ललट्ठीमहु एणं, अवसेस सव्व दंतवणविहि पच्चक्खाइ।

(३)तयाणंतर च ण फलविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ एगेण खीरामलएण, अव-सेस सव्वं फलविहि पच्चक्खाइ।

(४) तयाणंतर च णं अब्भगणविहिपरिमाण करेइ—नन्नत्थ सयपागसहस्स-पागेहिं तेल्लेहिं, अवसेसं सव्वं अब्भगणविहिं पच्चक्खाइ।

(५) तयाणंतरं च णं उव्वट्टणाविहिपरिमाणं करेइ— नन्नत्थ एगेणं सुरभिणा गंधट्टएण, अवसेसं सव्वं उव्वट्टणाविहिं पच्चक्खाइ।

(६) तयाणंतरं च णं मज्जणविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं 'उदगस्स घडेहिं, अवसेसं सव्वं मज्जणविहिं पच्चक्खाइ।

(७) तयाणंतरं च णं वत्थविहिपरिमाणं करेइ— नन्नत्थ एगेण खोमजुयलेणं, अवसेस सव्व वत्थविहिं पच्चक्खाइ।

(८) तयाणंतरं च णं विलेवणविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ अगरुकुंकुमचदणमादिएहिं, अवसेसं सव्वं विलेवणविहिं पच्चक्खाइ।

(९) तयाणंतरं च णं पुप्फविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ एगेणं सुद्धपउमेणं मालइकुसुमदामेण वा, अवसेसं सव्वं पुप्फविहिं पच्चक्खाइ।

(१०) तयाणंतरं च णं आभरणविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ मट्ठकण्णेज्जएहिं नाममुद्दाए य, अवसेस सव्वं आभरणविहिं पच्चक्खाइ।

(११) तयाणतर च णं धूवणविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ अगरू-तुरुक्क-धूवमादिएहि, अवसेस सव्वं धूवणविहिं पच्चक्खाइ।

(१२) तयाणंतरं च णं भोयणविहिपरिमाणं करेमाणे —

(क) पेज्ज-विहिपरिमाण करेइ—नन्नत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं सव्व पेज्जविहि पच्चक्खाइ।

(ख) तयाणतरं च णं भक्खविहिपरिमाण करेइ—नन्नत्थ एगेहि घयपुण्णेहिं खडखज्जएहिं वा, अवसेस सव्वं भक्खविहिं पच्चक्खाइ।

(ग) तयाणतरं च णं ओदणविहिपरिमाण करेइ—नन्नत्थ कलमसालिओदणेणं, अवसेस सव्व ओदणविहिं पच्चक्खाइ।

(घ) तयाणतर च सूवविहिपरिमाण करेइ—नन्नत्थ कलायसूवेण वा मुग्गसूवेण वा माससूवेण वा अवसेसं सव्वं सूवविहिं पच्चक्खाइ।

(ङ) तयाणतरं च ण घयविहिपरिमाण करेइ—नन्नत्थ सारदिएणं गोघयमंडेण, अवसेस सव्व घयविहिं पच्चक्खाइ।

(च) तयाणतर च ण सागविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ वत्थुसाएण वा तंवुसाएण वा सुत्थियसाएण वा मडुक्कियसाएण वा, अवसेसं सव्व सागविहि पच्चक्खाइ।

(छ) तयाणंतरं च ण माहुरयविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ एगेण पालंकामाहुरएण, अवसेस सव्वं माहुरयविहिं पच्चक्खाइ।

(ज) तयाणंतर च ण तेमणविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ सेहंवदालियंवेहिं, अवसेस

सव्वं तेमणविहिं पच्चक्खाइ।

(झ) तयाणंतरं च णं पाणियविहिपरिमाणं करेइ—नन्नत्थ एगेणं अतलिक्खोदएणं, अवसेसं सव्व पाणियविहिं पच्चक्खाइ।

(ञ) तयाणंतरं च ण मुहवासविहिपरिमाण करेइ—नन्नत्थ पंचसोगंधिएणं तंबोणं, अवसेसं सव्वे मुहवासविहि पच्चक्खाइ।

तयाणंतरं च ण चउव्विहं अणट्ठादंडंपच्चक्खाइ, त जहा—१. अवज्झाणाचरित पमायाचरितं ३. हिंसप्पयाणं ४ पावकम्मोवदेसे।

तयाणतरं च णं थूलयस्स पाणाइवायवेरमणस्सं समणोवासएण पच अतियारा याला जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—

१. बधे

२. वहे

३. छविच्छेदे

४. अतिभारे

५. भत्तपाणवोच्छेदे।

❑ तयाणंतर च ण थूलयस्य अदिण्णादाणवेरमणस्स समणोवासएण पंच अतियारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, त जहा—

१. तेणाहडे

२. तक्करप्पओगे

३. विरुद्धरज्जातिक्कमे

४ कूडतुल-कूडमाणे

५. तप्पडिरूवगववहारे।

❑ तयाणतरं च णं इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं पच अतियारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—

१. खेत्तवत्थुपमाणातिक्कमे

२. हिरण्णसुवण्णपमाणातिक्कमे

३. धणधण्णपमाणातिक्कमे

४ दुपयचउप्पयपमाणातिक्कमे

५ कुवियपमाणातिक्कमे।

❑ तयाणतरं च ण दिसिवसस्प समणोवासएणं पंच अतियारा जाणियव्वा, न

समायरियव्वा, तं जहा—
१. उड्ढदिसिपमाणातिक्कमे
२. अहोदिसिपमाणातिक्कमे
३. तिरियदिसिपमाणातिक्कमे
४. खेत्तवुड्ढी
५. सतिअतरद्धा।

कम्मओ ण समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइ, न समायरियव्वाइं, तं जहा—१. इंगालकम्मे २. वणकम्मे ३. साडीकम्मे ४. भाडीकम्मे ५ फोडीकम्मे ६. दतवाणिज्जे ७. लक्खवाणिज्जे ८. रसवाणिज्जे ९. विसवाणिज्जे १०. केसवाणिज्जे, ११. जतपीलणकम्मे १२. निल्लंछणकम्मे १३. दवग्गिदावणया १४ सरदहतलागपरिसोसणया १५. असतीजणपोसणया ॥[१]

- इह खलु पाईणं वा पडीण वा उदीण वा दाहिण वा सतेगइया मणुस्सा भवति, त जहा—महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोइणो अधम्मपलज्जणा अधम्मसीलसमुदाचारा अधम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति, हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया उक्कचण-वंचण-माया-णियडिकूड-कवड-साइ-सपओगवहुला दुस्सीला दुव्वया दुप्पडियाणदा असाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मुसावायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मेहुणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए।
- इह खलु पाईण वा पडीणं वा उदीण वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवति, तं जहा— अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोई धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मुसावाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वायाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए।

१. उवा मगदसाओ १/२४, २८-३०, ३२, ३४, ३६, ३८

❑ इह खलु पाईण वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, त जहा– अप्पिच्छा अप्पारभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोई धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू, एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडि-विरया। एगच्चाओ मुसावायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया।

२. व्रत-दीक्षा

श्रावक की पहली भूमिका है सम्यक्त्व दीक्षा। सम्यक्त्व की पुष्टि के बाद श्रावक की दूसरी भूमिका — व्रत दीक्षा स्वीकार की जाती है। व्रत दीक्षा का अर्थ है — संयम की ओर प्रस्थान। एक गृहस्थ श्रावक पूरी तरह से संयमी नही हो सकता पर वह अंसमय की सीमा कर सकता है। इसी दृष्टि से भगवान् महावीर ने उसके लिए बारह व्रत रूप सयम धर्म का निरूपण किया। अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप बाहर व्रत एवं तेरहवां मारणान्तिक संलेखना — यही व्रत दीक्षा है। उसका स्वरूप इस प्रकार है —

१. अहिंसा-अणुव्रत

- ❑ मै स्थूल प्राणातिपात[१] का प्रत्याख्यान करता हूं/ करती हूं।
- ❑ मै आजीवन निरपराध त्रस प्राणी की सकल्पपूर्वक हत्या न स्वय करूगा, न दूसरो से कराऊंगा, मन से, वचन से काया से।
- ❑ मै विशेष रूप से मनुष्य को बलात् अनुशासित करने, आक्रमण करने, उसे पराधीन बनाने, अस्पृश्य मानने, शोषित और विस्थापित करने का परित्याग करता हू।
- ❑ मै इस अहिसा अणुव्रत की सुरक्षा के लिए वध,[२] बन्धन,[३] अंग-भंग, अतिभार-आरोपण, खाद्य-पेय-विच्छेद और आगजनी जैसे क्रूर कर्मो से बचता रहूंगा।

१. हिसा दो प्रकार की होती है — (१) आरम्भजा (२) सकल्पजा। अहिंसा अणुव्रत मे केवल सकल्पजा हिंसा का त्याग किया जाता है। इसलिए यह स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान है।

२. क्रूरतापूर्ण पीटना।

३. क्रूरतापूर्ण बाधना।

---

१ सूयगडो-२/२-५८,६३,७१

२. सत्य अणुव्रत

- मैं स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूं —
- वैवाहिक सम्बन्ध, पशु-विक्रय, भूमि-विक्रय, धरोहर और साक्षी जैसे व्यव-हारो मे असत्य न स्वयं बोलूगा, न दूसरो से बुलवाऊंगा, मन से, वचन से, काया से ।
- मैं इस सत्य की सुरक्षा के लिए किसी पर दोषारोपण, षड्यंत्र का आरोप, मर्म का प्रकाशन, गलत पथ-दर्शन और कूटलेख[1] जैसे छलनापूर्ण व्यवहारों से बचता रहूंगा ।

३. अचौर्य अणुव्रत

- मै स्थूल अदत्तादान (चोरी) का प्रत्याख्यान करता हूं ।
- मै आजीवन ताला तोडने, जेब कतरने, सेंध मारने, डाका डालने, राहजनी करने और दूसरे के स्वामित्व का अपहरण करने जैसे क्रूर व्यवहार न स्वयं करूंगा, न दूसरो से कराऊंगा, मन से, वचन से, काया से ।
- मै इस अचौर्य अणुव्रत की सुरक्षा के लिए चोरी की वस्तु लेने, राजनिषिद्ध वस्तु का आयात-निर्यात करने, असली के वदले नकली माल वेचने, मिलावट करने, कूट तोल-माप करने और रिश्वत लेने जैसे वंचनापूर्ण व्यवहारो मे वचता रहूगा ।

४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत

- मै स्थूल मैथुन[2] का प्रत्याख्यान करता हू —
- मै आजीवन अपनी पत्नी/पति के अतिरिक्त शेष सव स्त्रियो-पुरुषों के साथ सभोग नही करूगा/करूंगी ।
- मैं इस ब्रह्मचर्य अणुव्रत की सुरक्षा के लिए पर स्त्री और वेश्यागमन, अप्राकृतिक मैथुन, तीव्र कामुकता और अनमेल विवाह जैसे आचरणो से वचता रहूगा/रहूगी ।

---

१ कूट दस्तावेज, जाली हस्ताक्षर आदि ।

२ मैथुन दो प्रकार का है —सूक्ष्म और स्थूल । मन, इन्द्रिय और वाणी में जो अल्पविकार उत्पन्न होता है, वह सूक्ष्म मैथुन है और शारीरिक काम-चेष्टा करना स्थूल मैथुन है ।

५. अपरिग्रह अणुव्रत

- ❑ मै स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूं —इच्छा का परिमाण करता हू।
- ❑ मेरे स्वामित्व मे जो परिग्रह है और आगे होगा, उसकी सीमा निम्नाकित प्रकार से करता हूं, उससे अधिक परिग्रह का आजीवन परित्याग करता हूं —

१. क्षेत्र, वास्तु (घर) का परिमाण।

२. सोना, चांदी, रत्न आदि का परिमाण।

३. धन, धान्य का परिमाण।

४. पशु, पक्षी आदि का परिमाण।

५. कुप्यप्रमाण—ताबा, पीतल धातु तथा अन्य गृहसामग्री, यान, वाहन आदि का परिमाण।

- ❑ मै संतान की सगाई, विवाह के उपलक्ष्य मे रुपये आदि लेने का ठहराव नही करूंगा।
- ❑ मै अपनी परिशुद्ध (नेट) आय का कम से कम एक प्रतिशत प्रतिवर्ष विसर्जन करूगा। यदि मेरी परिशुद्ध (नेट) वार्षिक आय पचास हजार रुपये से अधिक होगी तो कम से कम अपनी आय का तीन प्रतिशत विसर्जन करूगा। विसर्जित राशि पर अपना किसी प्रकार का स्वामित्व नही रखूगा।
- ❑ मै अपरिग्रह अणुव्रत की सुरक्षा के लिए उक्त सीमाओ और नियमो के अतिक्रमण से बचता रहूंगा।

६. दिग् परिमाण व्रत

- ❑ मै ऊची, नीची, तिरछी दिशाओ मे स्वीकृत सीमा से बाहर जाने व हिंसा आदि के आचरण का प्रत्याख्यान करता हू।
- ❑ मै दिग्व्रत की सुरक्षा के लिए निम्न निर्दिष्ट अतिक्रमणो से बचता रहूंगा —

१. ऊंची, नीची, तिरछी दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना।

२. एक दिशा का परिमाण घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना।

३ दिशा के परिमाण की विस्मृति होना।

- ❑ मैं अपने राष्ट्र से बाहर जाकर राजनीति मे हस्तक्षेप और जासूसी नही करूंगा। स्थानीय जनता के हितो को कुचलने वाला व्यावसायिक विस्तार

नही करूंगा और बिना टिकट या पारपत्र के यात्रा नहीं करूंगा।

७. भोगोपभोग-परिमाण व्रत

❑ मै उपभोग-परिभोग विधि का प्रत्याख्यान करता हूं—निम्निर्दिष्ट वस्तुओं का परिमाण करता हूं —

१. उल्लणिया विधि—अगोछे का परिमाण।

२. दन्तवन विधि—दतौन का परिमाण।

३ फल-विधि—स्नान के लिए काम मे लिये जाने वाले आंवले आदि का परिमाण।

४ अभ्यंगण विधि—तेल-मर्दन का परिमाण।

५ उद्वर्तन विधि—उबटन (पिट्ठी) का परिमाण।

६. मज्जन विधि—स्नान-जल का परिमाण।

७. वस्त्र विधि—वस्त्र का परिमाण।

८ विलेपन विधि—चन्दन आदि के विलेपन का परिमाण।

९. पुष्प विधि—पुष्प या पुष्पमाला का परिमाण।

१० आभरण विधि—आभूषण का परिमाण।

११. धूपन विधि—अगरवत्ती आदि जलाने का परिमाण।

१२. भोजन विधि—खाद्य पदार्थो का परिमाण। जैसे—

❑ पेय विधि—पेय द्रव्यो का परिमाण।

❑ भक्ष्य विधि—मिठाई एवं नमकीन आदि का परिमाण।

❑ ओदन विधि—चावल आदि अन्न का परिमाण।

❑ सूपविधि —दालो का परिमाण।

❑ घृतविधि—घृत, तेल आदि स्नेह का परिमाण।

❑ शाक विधि—पालक आदि शाक का परिमाण।

❑ मधुर विधि—आम आदि फलो तथा मेवो का परिमाण।

❑ तेमन विधि—दहीबडे आदि का परिमाण।

❑ पानीय विधि—जल प्रकारो, (भौम, अंतरिक्ष) का परिमाण।

❑ मुखवास विधि—ताम्बूल आदि का परिमाण।

१३. वाहन विधि—वाहन का परिमाण।

१४ शयन विधि—पलंग, विछौने आदि का परिमाण।

१५. उपानद् विधि—जूते, चप्पल आदि का परिमाण।

१६. सचित्त विधि—सजीव द्रव्यो का परिमाण।

१७. द्रव्य विधि—खाद्य, पेय पदार्थो की संख्या का परिमाण।

भोजन सबधी उपभोग-परिभोग व्रत की सुरक्षा के लिए मै इन अतिक्रमणो से बचता रहूंगा—

१. सचित्ताहार—प्रत्याख्यान के उपरान्त सचित्त वस्तु का आहार करना।

२. सचित्त प्रतिबद्धाहार—सचित्त सयुक्त आहार करना।

३. अपक्व धान्य का आहार करना।

४. अर्धमान धान्य का आहार करना।

५. असार फल आदि खाना।

कर्म (व्यवसाय) की दृष्टि से पन्द्रह कर्मादान श्रमणोपासक के लिए मर्यादा के उपरान्त अनाचरणीय है।

१. अगारकर्म—अग्निकाय के महाआरभ वाला कार्य।

२. वनकर्म—जगल को काटने का व्यवसाय।

३. शाकटकर्म—वाहन चलाने का व्यवसाय।

४. भाटककर्म—किराये का व्यवसाय।

५. स्फोटकर्म—खदान, पत्थर आदि फोडने का व्यापार।

६. दन्तवाणिज्य—हाथीदांत, मोती, सीग, चर्म, अस्थि आदि का व्यापार।

७. लाक्षावाणिज्य—लाख, मोम आदि का व्यापार।

८. रसवाणिज्य—घी, दूध, दही तथा मद्य, मास आदि का व्यापार।

९. विषवाणिज्य—कच्ची धातु, संखिया, अफीम आदि विषैली वस्तु तथा अस्त्र-शस्त्र आदि का व्यापार।

१०. केशवाणिज्य—चमरी गाय, घोड़ा, हाथी तथा ऊन एवं रेशम आदि का व्यापार।

११. यन्त्र पीलनकर्म—ईख, तिल आदि को कोल्हू मे पीलने का धधा।

१२. निर्लाछनकर्म—वैल आदि को नपुंसक करने का धंधा।

१३ दावानलकर्म—खेत या भूमी को साफ करने के लिए आग लगाना तथा जंगलो मे आग लगाना।

१४. सरद्रहतडागशोपण—झील, नदी, तालाव आदि को सुखाना।

१५ असतीजनपोषण— दास, दासी, पशु-पक्षी आदि का व्यापारार्थ पोषण करना।

८. अनर्थदण्ड विरमण व्रत

मै अनर्थदण्ड का प्रत्याख्यान करता हूं। इसके चार प्रकार है—

१. अपध्यानाचरित—आर्त, रौद्र ध्यान की वृद्धि करने वाला आचरण।

२. प्रमादाचरित—प्रमाद की वृद्धि करने वाला आचरण।

३. हिंस्रप्रदान—हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र देना।

४ पापकर्मोपदेश—हत्या, चोरी, डाका, द्यूत आदि का प्रशिक्षण देना। इस अनर्थदण्ड विरमण व्रत की सुरक्षा के लिए मैं निम्नलिखित अतिक्रमणो से बचता रहूंगा—

१. कन्दर्प—कामोद्दीपक क्रियाए।

२. कौतकुच्य—कायिक चपलता।

३. मौखर्य—वाचालता।

४ सयुक्ताधिकरण—अस्त्र-शस्त्रो की सज्जा।

५. उपभोग परिभोगातिरेक—-उपभोग-परिभोग की वस्तुओ का आवश्यकता के उपरान्त सग्रह।

९. सामायिक व्रत

सामायिक का अर्थ है सावद्य योग से विरत होना तथा निरवद्य योग में प्रवृत्त होना। इसके पाच अतिचार है—

१. मन दुष्प्रणिधान—मन की असत् प्रवृत्ति।

२. वचन दुष्प्रणिधान—वचन की असत् प्रवृत्ति।

३ काय दुष्प्रणिधान—काय की असत् प्रवृत्ति।

४. सामायिक की विस्मृति।

५. नियत समय से पहले सामायिक की समाप्ति।

१०. देशावकाशिक व्रत

मैंने छहो दिशाओ मे जाने का जो परिमाण किया है, उसके [illegible] सीमा का प्रतिदिन या अल्पकालीन सकोच करूंगा।

११. पोषधोपवास व्रत

❑ मै प्रति वर्ष कम से कम एक पौषध करूंगा। दिन-रात उपव की विशेष साधना करूगा। मै पौषध व्रत की सुरक्षा के लि अतिक्रमणो से बचता रहूगा—

१. व्रती के लिए प्रतिदिन कम से कम एक सामायिक करना आव सम्भव न हो सके तो प्रति सप्ताह कम से कम एक सामायिक अवश मुहूर्त्त (४८ मिनिट) तक समता की विधिवत साधना करना।

१. स्थान, वस्त्र, बिछौने आदि को बिना देखे या असावधानी से

२. स्थान, वस्त्र, बिछौने आदि को रात्रि के समय बिना पूजे या पूज कर काम मे लेना।

३. भूमि को दिन मे बिना देखे या असावधानी से मल-मूत्र का वि

४. भूमि को रात्रि मे बिना प्रमार्जन किए या असावधानी से मल-मू करना।

५. पौषधोपवास व्रत का विधिपूर्वक पालन न करना।

१२. यथासंविभाग व्रत

❑ मै अपने प्रासुक और एषणीय भोजन, वस्त्र आदि का (यथास देकर संयमी व्यक्तियो के सयम-जीवन मे सहयोगी बनूंगा।

❑ मै यथासंविभाग व्रत की अनुपालना के लिए निम्न निर्दिष्ट अ बचता रहूगा—

१. एषणीय वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रखना।

२. एषणीय वस्तु को सचित्त वस्तु से ढकना।

३. काल का अतिक्रमण करना।

४ अपनी वस्तु को दूसरो की बताना।

५ मत्सर भाव से दान देना।

६. अप्रासुक और अनैषणीय वस्तु का दान देना, जैसे—साधु के निमि खरीदकर, समय को आगे-पीछे कर आदि तरीको से दान देना।

संलेखना

❑ मै इस सलेखना व्रत की आराधना करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अ

से वचता रहूंगा—

१. इहलोक सम्वन्धी सुखों की अभिलाषा ।

२. परलोक सम्वन्धी सुखों का अभिलाषा ।

३ जीने की अभिलाषा ।

४. मरने की अभिलाषा ।

५. कामभोग की अभिलाषा ।

३. चौदह नियम

श्रावक के दैनंदिन व्यावहारिक प्रवृत्तियो के सीमाकरण का एक क्रम प्राचीन काल से चला आ रहा है, जिसमे प्रमुख रूप से चौदह बिन्दुओ का स्पर्श है। ये चौदह बिन्दु चौदह नियम की सज्ञा से अभिहित है—

१. सचित्त—अन्न, पानी, फल आदि सचित्त वस्तुओ की सीमा करना।

२. द्रव्य—खाने-पीने संबंधी वस्तुओं की सीमा करना।

३. विगय—दूध, दही, घी, तेल, गुड़, मीठा—इन छह विगय के परिभोग की सीमा करना।

४. पन्नी—जूते, मोजे, खड़ाऊ, चप्पल आदि की सीमा करना।

५. ताम्बूल—पान, सुपारी, इलायची, चूर्ण आदि मुखवास के द्रव्यो की सीमा करना।

६. वस्त्र — पहनने के वस्त्रों की सीमा करना।

७. कुसुम—फूल, इत्र व अन्य सुगंधित वस्तुओं की सीमा करना।

८. वाहन—मोटर, रेल, स्कूटर, रिक्शा आदि वाहनों की सीमा करना।

९. शयन—बिछौनो की सीमा करना।

१०. विलेपन—केसर, तेल आदि लेप करने वाले पदार्थो की सीमा करना।

११. अब्रह्चर्य—मैथुन सेवन की सीमा करना।

१२. दिशा—छहो दिशाओ मे यातायात व अन्य जो भी प्रवृत्तियां की जाती हैं, उनकी सीमा करना।

१३. स्नान—स्नान व जल की मात्रा की सीमा करना।

१४. भक्त—अशन, पान, खादिम, स्वादिम की सीमा करना।

४. अणुव्रत आचार संहिता

१. मै किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नही करूंगा।

❑ आत्म-हत्या नही करूगा।

❑ भ्रूण-हत्या नही करूंगा।

२. मै आक्रमण नही करूंगा।

❑ आक्रामक नीति का समर्थन नही करूगा

❑ विश्व-शाति तथा नि.शस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।

३. मै हिंसात्मक एव तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियो मे भाग नही लूंगा।

४. मै मानवीय एकता मे विश्वास करूंगा।

❑ जाति, रग आदि के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नही मानूंगा।

❑ अस्पृश्य नही मानूगा।

५. मै धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा।

❑ साम्प्रदायिक उत्तेजना नही फैलाऊंगा।

६. मै व्यवसाय और व्यवहार मे प्रामाणिक रहूंगा।

❑ अपने लाभ के लिए दूसरे को हानि नही पहुंचाऊंगा।

❑ छलनापूर्ण व्यवहार नही करूगा।

७. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूंगा।

८. मै चुनाव के सबंध मे अनैतिक आचरण नही करूंगा।

९. मै सामाजिक कुरूढ़ियो को प्रश्रय नही दूंगा।

१०. मै व्यसन-मुक्त जीवन जीऊंगा।

❑ मादक तथा नशीले पदार्थो—जैसे शराब, गांजा, चरस, हेरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नही करूंगा।

११. मै पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।

❑ हरे-भरे वृक्ष नही काटूंगा।

❑ पानी का अपव्यय नही करूंगा।

5. अर्थशास्त्र : आधुनिक विचार

Hence there is need to identify ourselves. Not capitalism, nor communism,but Integral Humanism. There is a tabulation of their characteristics.

	Capitalism	Communism	Integral Humanism
1. Philosophy	Materialism	Materialism	Integral Humanism
2. Aim	Economic development of individual without any restriction	State's economic growth	Fourfold development of an individual Dharm, Artha, Kama, Moksha.
3. Form of Man	Economic animal	Economic animal	Amalgam of Body, Mind, Intellect, Soul.
4. Pattern of life	Club life	Mechanical life	Human body
5. Activity and Controls	Limitless freedom to individual bordering even to vulgarism.	State control restrictions ever on freedom of thinking.	Vulgarless freedom to individual in action, freedom of thought.
6. Property Right	Limitless	None	Right to have to satisfy minimum needs.
7. Methodology	Exploitation of individuals by individuals	Slow usurpation by State	Charity and selfless Sacrifice.
8. Ethos	Individualism	State control	Participatory as part and parcel of society.
9 Approach	Sense of competition	By use of force	Co-operation
10. Constitution of Government	Multi-Party Democracy	Single party autocracy	Duty-based rule
11 Fruits of labour	Capitalist Boss	State	Society
12. Employment Potential	According to status and vacancy	State-orchestered	According to aptitude
13 Thought process	Compartmental	Compartmental	Integral

TO HAVE OR TO BE

(by Erich Fromm, Pub. Jonathen Cape Ltd. London, 1978)

The Economic Necessity for Human Change

Thus far the argument here has been that the character traits engendered by our socio-economic system,i.e., by our way of living, are pathogenic and eventually produce a sick person and, thus, a sick society. There is, however, a second argument from an entirely different viewpoint in favour of profound psychological changes in Man as an alternative to economic and ecological catastrophe. It is raised in two reports commissioned by the Club of Rome, one by D.H. Meadows et al., the other by M.D. Mesarovic and E. Pestel. Both reports deal with the technological, economic, and population trends on a world scale Mesarovic and Pestel conclude that only drastic economic and technological changes on a global level, according to a master plan, can "avoid major and ultimately global catastrophe," and the data they array as proof of their thesis are based on the most global and systematic research that has been made so far. (Their book has certain methodological advantages over Meadows's report, but that earlier study considers even more drastic economic changes as an alternative to catastrophe.) Mesarovic and Pestel conclude furthermore, that such economic changes are possible only *"if fundamental changes in the values and attitudes of man occur* [or as I would call it, in human character orientation]

such as a new ethic and a new attitude towards nature" (emphasis added). What they are saying confirms only what others have said before and since their report was published, that a new society is possible *only if,* in the process of developing it, a new human being also develops, or in more modest terms, if a fundamental change occurs in contemporary Man's character structure.

Unfortunately, the two reports are written in the spirit of quantification, abstraction, and depersonalization so characteristic of our time, and besides that, they neglect completely all political and social factors, without which no realistic plan can possibly be made. Yet they present valuable data, and for the first time deal with the economic situation of the human race as a whole, its possibilities and its dangers. Their conclusion, that a new ethic and a new attitude towards nature are necessary, is all the more valuable because this demand is so contrary to their philosophical premises.

At the other end of the gamut stands E.F. Schumacher, who is also an economist, but at the same time a radical humanist. His demand for a radical human change is based on two arguments : that our present social order makes us sick, and that we are headed for an economic catastrophe unless we radically change our social system.

The need for profound human change emerges not only as an ethical or religious demand, not only as a psychological demand arising from the pathogenic nature of our present social character, but also as a condition for the sheer survival of the human race. Right living is no longer only the fulfilment of an ethical or religious demand. For the first time in history the *physical survival of the human race depends on a radical change of the human heart.* However, a change of the human heart is possible only to the extent that drastic economic and social changes occur that give the

human heart the chance for change and the courage and the vision to achieve it.

Is there an Alternative to Catastrophe ?

All the data mentioned so far are published and well-known. The almost unbelievable fact is that no serious effort is made to avert what looks like a final decree of fate. While in our private life nobody except a mad person would remain passive in view of a threat to his total existence, those who are in charge of public affairs do practically nothing, and those who have entrusted their fate to them let them continue to do nothing.

How is it possible that the strongest of all instincts, that for survival, seems to have ceased to motivate us ? One of the most obvious explanations is that the leaders undertake many actions that make it possible for them to pretend they are doing something effective to avoid a catastrophe: endless conferences, resolutions, disarmament talks, all give the impression that the problems are recognized and something is being done to resolve them. Yet nothing of real importance happens; but both the leaders and the led anesthetize their consciences and their wish for survival by giving the appearance of knowing the road and marching in the right direction.

Another explanation is that the selfishness the system generates makes leaders value personal success more highly than social responsibility. It is no longer shocking when political leaders and business executives make decisions that seem to be to their personal advantage,but at the same time are harmful and dangerous to the community. Indeed, if selfishness is one of the pillars of contemporary practical ethics, why should they act otherwise ? They do not seem to know that greed (like submission) makes people stupid far as the pursuit of even their own real interests is concer

such as their interest in their own lives and in the lives of their spouses and their children (cf. J. Piaget, *The Moral Judgment of the Child*). At the same time, the general public is also so selfishly concerned with their private affairs that they pay little attention to all that transcends the personal realm.

Yet another explanation for the deadening of our survival instinct is that the changes in living that would be required are so drastic that people prefer the future catastrophe to the sacrifice they would have to make now. Arthur Koestler's description of an experience he had during the Spanish Civil War is a telling example of this widespread attitude: Koestler sat in the comfortable villa of a friend while the advance of Franco's troops was reported; there was no doubt that they would arrive during the night, and very likely he would be shot; he could save his life by fleeing, but the night was cold and rainy, the house, warm and cozy; so he stayed, was taken prisoner, and only by almost a miracle was his life saved many weeks later by the efforts of friendly journalists. This is also the kind of behaviour that occurs in people who will risk dying rather than undergo an examination that could lead to the diagnosis of a grave illness requiring major surgery.

Aside from these explanations for fatal human passivity in matters of life and death, there is another, which is one of my reasons for writing this book. I refer to the view that we have no alternatives to the models of corporate capitalism, social democratic or Soviet socialism, or technocratic "fascism with a smiling face." The popularity of this view is largely due to the fact that little effort has been made to study the feasibility of entirely new social models and to experiment with them. Indeed, as long as the problems of social reconstruction will not, even if only partly,take the place of the preoccupation of our best minds with science

and technique, the imagination will be lacking to visualize new and realistic alternatives.

In *'Population Resources, Environment: Issues in Human Ecology' Paul Ehrlich and Anne Ehrlich* present the following conclusions about "the present world situation":

1. Considering present technology and patterns of behaviour our planet is grossly overpopulated now.
2. The large absolute number of people and the rate of population growth are major hindrances to solving human problems.
3. The limits of human capability to produce food by conventional means have very nearly been reached. Problems of supply and distribution have already resulted in roughly half of humanity being undernourished or malnourished. Some 10-20 million people are starving to death annually now.
4. Attempts to increase food production further will tend to accelerate the deterioration of our environment, which in turn will eventually *reduce* the capacity of the earth to produce food. It is not clear whether environmental decay has now gone so far as to be essentially irreversible; it is possible that the capacity of the planet to support human life has been permanently impaired. Such technological "successes" as automobiles, pesticides, and inorganic nitrogen fertilizers are major causes of environmental deterioration.
5. There is reason to believe that population growth increases the probability of a lethal worldwide plague and of a thermonuclear war. Either could provide an undesirable "death rate solution" to the population problem; each is potentially capable of destroying civilization and even of driving *Homo sapiens* to extinction.

6. There is no technological panacea for the complex of problems composing the population-food-environment crisis, although technology properly applied in such areas as pollution abatement, communications, and fertility control can provide massive assistance. *The basic solutions involve dramatic and rapid changes in human attitudes,* especially those relating to reproductive behaviour, economic growth, technology, the environment, and conflict resolution. [Emphasis added.]

E. Eppler's Ende oder Wende (End or change) is another recent work that bears mention. Eppler's ideas are similar to Schumacher's though less radical, and his position is perhaps especially interesting because he is the leader of the Social Democratic party in Baden-Württemberg and a convinced Protestant. Two books I wrote are of the same orientation, *The Sane Society and the Revolution of Hope.*

Even among the Soviet bloc writers, where the idea of the *restriction of production* has always been tabu, voices are beginning to suggest that consideration be given to an economy without growth. W. Harich, a dissident Marxist in the German Democratic Republic, proposes a static, worldwide economic balance, which alone can guarantee equality and avert the danger of irreparable damage to the biosphere. Also, in 1972 some of the most outstanding natural scientists, economists, and geographers in the Soviet Union met to discuss "Man and His Environment." On their agenda were the results of the Club of Rome studies, which they considered in a sympathetic and respectful spirit, pointing to the considerable merits of the studies, even though not agreeing with them. (See "Technologie and Politik" in the Bibliography, for a report of this meeting.)

The most important contemporary anthropological and historical expression of the humanism that is common to these various attempts at humanist social reconstruction is to be found in L.Mumford's *The Pentagon of Power* and in all his previous books.

Conditions for Human Change and the Features of the New Man

Assuming the premise is right—that only a fundamental change in human character from a preponderance of the having mode to a predominantly being mode of existence can save us from a psychologic and economic catastrophe—the question arises: Is large-scale characterological change possible, and if so, how can it be brought about ?

I suggest that human character *can* change if these conditions exist :

1. We are suffering and are aware that we are.
2. We recognize the origin of our ill-being.
3. We recognize that there is a way of overcoming our ill-being.
4. We accept that in order to overcome our ill-being we must follow certain norms for living and change our present practice of life.

These four points correspond to the Four Noble Truths that form the basis of the Buddha's teachning dealing with the general condition of human existence, though not with cases of human ill-being due to specific individual or social circumstances.

The same principle of change that characterizes the methods of the Buddha also underlies Marx's idea of salvation. In order to understand this it is necessary to be aware that for Marx, as he himself said, communism was not a final goal, but a step in the historical development

that was to liberate human beings from those socio-economic and political conditions that make people inhuman—prisoners of things, machines, and their own greed.

Marx's first step was to show the working class of his time, the most alienated and miserable class, *that* they suffered. He tried to destroy the illusions that tended to cover the workers' awareness of their misery. His second step was to show the *causes* of this suffering. which he points out are in the nature of capitalism and the character of greed and avarice and dependence that the capitalistic system produces. This analysis of the causes of the workers' suffering (but not *only* theirs) contributed the main thrust of Marx's work, the analysis of capitalistic economy.

His third step was to demonstrate that the suffering could be removed if the conditions for suffering were removed. In the fourth step he showed the new practice of life, the new social system that would be free of the suffering that the old system, of necessity, had to produce.

Freud's method of healing was essentially similar. Patients consulted Freud because they suffered and they were aware *that* they suffered. But they were usually not aware *what* they suffered *from*. The psychoanalyst's usual first task is to help patients give up their illusions about their suffering and learn what their ill-being really consists of. The diagnosis of the nature of individual or societal ill-being is a matter of interpretation, and various interpreters can differ. The patients' own picture of what they suffer from is usually the least reliable datum for a diagnosis. The essence of the psychoanalytic process is to help make patients aware of the *causes* of their ill-being.

As a consequence of such knowledge, patients can arrive at the next step : the insight that their ill-being can

be cured, provided its causes are done away with. In Freud's view this meant to lift the repression of certain infantile events. Traditional psychoanalysis –seems essentially not to agree on the need for the fourth point, however. Many psychoanalysts seem to think that, by itself, insight into the repressed has a curative effect. Indeed, this is often the case, especially when the patient suffers from circumscribed symptoms, such as hysterical or obsessional symptoms. But I do not believe any thing lasting can be achieved by persons who suffer from a general ill-being and for whom a change in character is necessary, *unless they change their practice of life in accordance with the change in character they want to achieve.* For instance, one can analyze the dependency of individuals until doomsday, but all the insights gained will accomplish nothing while they stay in the same practical situations they were living in before arriving at these insights. To give a simple example : a woman whose suffering is rooted in her dependency on her father, even though she has insight into deeper causes of the dependency, will not really change unless she changes her practice of life, for instance separates from her father, does not accept his favours, takes the risk and pain that these practical steps towards independence imply. *Insight separated from practice remains ineffective.*

The New Man

The function of the new society is to encourage the emergence of a new Man, beings whose character structure will exhibit the following qualities:

- Willingness to give up all forms of having, in order to fully *be.*
- Security, sense of identity, and confidence based on faith

in what one *is*, on one's need for relatedness, interest, love, solidarity with the world around one, instead of on one's desire to have, to possess, to control the world, and thus become the slave of one's possessions.

- Acceptance of the fact that nobody and nothing outside oneself give meaning to life, but that this radical independence and no-thingness can become the condition for the fullest activity devoted to caring and sharing.
- Being fully present where one is.
- Joy that comes from giving and sharing, not from hoarding and exploiting.
- Love and respect for life in all its manifestations, in the knowledge that not things, power, all that is dead, but life and everything that pertains to its growth are sacred.
- Trying to reduce greed, hate, and illusions as much as one is capable.
- Living without worshiping idols and without illusions, because one has reached a state that does not require illusions.
- Developing one's capacity for love, together with one's capacity for critical, unsentimental thought.
- Shedding one's narcissism and accepting the tragic limitations in herent in human existence.
- Making the full growth of oneself and of one's fellow beings the supreme goal of living.
- Knowing that to reach this goal, discipline and respect for reality are necessary.
- Knowing, also, that no growth is healthy that does not occur in a structure, but knowing, too, the difference between structure as an attribute of life and "order" as an attribute of no-life, of the dead.
- Developing one's imagination, not as an escape from intolerable circumstances but as the anticipation [illegible]

possibilities, as a means to do away with intolerable circumstances.

- Not deceiving others, but also not being deceived by others; one may be called innocent, but not naive.
- Knowing oneself, not only the self one knows, but also the self one does not know—even though one has a slumbering knowledge of what one does not know.
- Sensing one's oneness with all life, hence giving up the aim of conquering nature, subduing it, exploiting it, raping it, destroying it, but trying, rather, to understand and cooperate with nature.
- Freedom that is not arbitrariness but the possibility to be oneself, not as a bundle of greedy desires, but as a delicately balanced structure that at any moment is confronted with the alternative of growth or decay, life or death.
- Knowing that evil and destructiveness are necessary consequences of failure to grow.
- Knowing that only a few have reached perfection in all these qualities, but being without the ambition to "reach the goal," in the knowledge that such ambition is only another form of greed, of having.
- Happiness in the process of ever-growing aliveness, whatever the farthest point is that fate permits one to reach, for living as fully as one can is so satisfactory that the concern for what one might or might not attain has little chance to develop.

To suggest what people living in contemporary cybernetic, bureaucratic industrialism—whether in its "capitalist" or "socialist" version—could do to break through the having form of existence and to increase the being sector is not within the scope of this book. In fact, it would require a book by itself, one that might appropriately be titled "The Art of Being." But many

books have been published in recent years about the road to well-being, some helpful, and many others made harmful by their fraudulence, exploiting the new market that caters to people's wish to escape their malaise. Some valuable books that might be helpful to anyone with a serious interest in the problem of achieving well being are listed in the Bibliography.

Features of the New Society

A New Science of Man

The first requirement in the possible creation of the new society is to be aware of the almost insurmountable difficulties that such an attempt must face. The dim awareness of this difficulty is probably one of the main reasons that so little effort is made to make the necessary changes. Many think: "Why strive for the impossible ? Let us rather act as if the course we are steering will lead us to the place of safety and happiness that our maps indicate." Those who unconsciously despair yet put on the mask of optimism are not necessarily wise. But those who have not given up hope can succeed only if they are hardheaded realists,. shed all illusions, and fully appreciate the difficulties. This sobriety marks the distinction between *awake* and *dreaming* "utopians."

- To mention only a few of the difficulties the construction of the new society has to solve :
- It would have to solve the problem of how to continue the industrial mode of production without total centalization, i.e., without ending up in fascism of the old-fashioned type or, more likely, technological "fascism with a smiling face."
- It would have to combine overall planning with a high degree of decentralization, giving up the "free-market economy," that has become largely a fiction.
- It would have to give up the goal of unlimited growth for selective growth, without running the risk of economic disaster.

- It would have to create work conditions and a general spirit in which not material gain but other, psychic satisfactions are effective motivations.
- It would have to further scientific progress and, at the same time, prevent this progress from becoming a danger to the human race by its practical application.
- It would have to create conditions under which people experience well-being and joy, not the satisfaction of the maximum-pleasure drive.
- It would have to give basic security to individuals without making them dependent on a bureaucracy to feed them.
- It must restore possibilities for "individual initiative" in living, rather than in business (where it hardly exists any more anyway).

As in the development of technique some difficulties seemed insurmountable, so the difficulties listed above seem insurmountable now. But the difficulties of technique were not insurmountable because a new science had been established that proclaimed the principle of observation and knowledge of nature as conditions for controlling it (Francis Bacon: *Novum Organum*, 1620). This new science of the seventeenth century has attracted the most brilliant mind in the industrialized countries up to this day, and it led to the fulfilment of the technical Utopias the human mind had been dreaming of.

But today, roughly three and a half centuries later, we need an entirely differnt new science. We need a Humanistic Science of man as the basis for the Applied Science and Art of Social Reconstruction.

Technical Utopias—flying, for examle—have been achieved by the new science of nature. The *human Utopia* of the Messianic Time—a united new humankind living in solidarity and peace, free from economic determination and

from war and class struggle—can be achieved, provided we spend the same energy, intelligence, and enthusiasm on the realization of the humanUtopia as we have spent on the realization of our technical Utopias. One cannot construct submarines by reading Jules Verne; one cannot construct a humanist society by reading the prophets.

Whether such a change from the supremacy of natural science to a new social science will take place, nobody can tell. If it does, we might still have a chance for survival, but whether it will depends on one factor: how many brilliant, learned, disciplined, and caring men and women are attracted by the new challenge to the human mind, and by the fact that this time *the goal is not control over nature but control over technique and over irrational social forces and institutions that threaten the survival of Western society, if not of the human race.*

It is my conviction that our future depends on whether, given awareness of the present crisis, the best minds will mobilize to devote themselves to the new humanistic science of Man. For nothing short of their concerted effort will help to solve the problem already mentioned here, and to achieve the goals discussed below.

Blueprints with such general aims as " socialization of the means of production" have turned out to be socialist and communist shibboleths mainly covering up the absence of socialism. "Dictatorship of the proletariat" or of an "intellectual elite" is no less nebulous and misleading than the concept of the "free market economy" or, for that matter, of the "free" nations. Earlier socialists and communists, from Marx to Lenin, had no concrete plans for a socialist or communist society; this was the great weakness of socialism.

New social forms that will be the basis of being will not arise without many designs, models, studies, and

experiments that *begin to bridge the gap between what is necessary and what is possible.* This will eventually amount to large-scale, long-run planning and to short-term proposals for first steps. The problem is the will and the humanist spirit of those who work on them; besides, when people can see a vision and simultaneously recognize what can be done step by step in a concrete way to achieve it, they will begin to feel encouragement and enthusiasm instead of fright.

If the economic and political spheres of society are to be subordinate to human development, *the model of the new society must be determined by the requirements of the unalienated, being-oriented individual.* This means that human beings shall neither live in inhuman povety—still the main problem of the majority of people—nor be forced—as are the affluent of the industrial world—to be a *Homo consumens* by the inherent laws of capitalist production, which demand continuous growth of production and,hence, enforce growing consumption. If human beings are ever to become free and to cease feeding industry by pathological consumption, a radical change in the economic system is necessary: *we must put an end to the present situation where a healthy economy is possible only at the price of unhealthy human beings.* The task is to construct a healthy economy for healthy people.

The first crucial step towards this goal is that production shall be directed for the sake of "sane consumption."

The traditional formula "Production for *use* instead of for *profit*" is insufficient because it does not qualify what kind of use is referred to: healthy or pathological. At this point a most difficult practical question arises : Who : determine which needs are healthy and which pathogenic ? Of one thing we can be certain : to citizens to consume what the state decides is best

it *is* the best—is out of the question. Bureaucratic control that would forcibly block consumption would only make people all the more consumption hungry. Sane consumption can take place only if an ever-increasing number of people *want* to change their consumption patterns and their lifestyles. And this is possible only if people are offered a type of consumption that is more attractive than the one they are used to. This cannot happen overnight or by decree, but will require a slow educational process, and in this the government must play an important role.

The function of the state is to establish norms for healthy consumption, as against pathological and indifferent consumption. In principle, such norms can be established. The U.S. Food and Drug Administration offers a good example: it determines which foods and which drugs are harmful, basing its determination on the expert opinion of scientists in various fields, often after prolonged experimentation. In similar fashion, the value of other commodities and services can be determined by a panel of psychologists anthropologists, sociologists, philosophers, theologians, and representatives of various social and consumer groups.

But the examination of what is life-furthering and what is life-damaging requires a depth of research that is incomparably greater than that necessary for resolving the problems of the FDA. Basic research on the nature of needs that has hardly been touched will have to be done by the new science of Man. We will need to determine which needs originate in our organism; which are the result of cultural progress; which are expressions of the individual's growth; which are synthetic, forced upon the individual by industry; which "activate" and which "passivate"; which are rooted in pathology and which in psychical health.

In contrast to the existing FDA, the decisions of the new

humanist body of experts would not be implemented by force, but would serve only as guidelines, to be submitted to the citizens for discussion. We have already become very much aware of the problem of healthful and unhealthful food; the results of the experts' investigations will help to increase society's recognition of all other sane and pathological needs. People would see that most consumption engenders passivity; that the need for speed and newness, which can only be satisfied by consumerism, reflects restlessness, the inner flight from oneself; they would become aware that looking for the next thing to do or the newest gadget to use is only a means of protecting oneself from being close to oneself or to an other person.

The government can greatly facilitate the educational process by subsidizing the production of desirable commodities and services, until these can be profitably produced. A large educational campaign in favour of sane consumption would have to accompany these efforts. It is to be expected that a *concerted effort to stimulate the appetite for sane consumption is likely to change the pattern of consumption.* Even if the brainwashing advertising methods that industry now uses are avoided—and this is an essential condition—it does not seem unreasonable to expect this effort to have an effect that is not too far behind that of industrial propaganda.

A standard objection to the whole programme of selective consumption(and production) according to the principle of "What furthers well-being ?" is that in the free market economy the consumers get precisely what they want, and hence there is no need for "selective" production, This argument is based on the assumption that consumers want, what is good for them, which is, of course, blatantly untrue (in the case of drugs, or perhaps even cigarettes, nobody would use this argument). The important fact that

the argument plainly ignores is that the wishes of the consumer are manufactured by the producer. In spite of competing brands, the overall effect of advertising is to stimulate the craving for consumption. All firms help each other in this basic influence via their advertising; the buyer exercises only secondarily the doubtful privilege of choosing between several competing brands. One of the standard examples offerd by those who argue that the consumers' wishes are all-powerful is the failure of the Ford company's Edsel." But the Edsel's lack of success does not alter the fact that even the advertising propaganda for it was *propaganda to buy automobiles*—from which all brands profited, except the unfortunate Edsel.Furthermore, industry influences taste by *not* producing commodities that would be more healthful to human beings but less profitable to industry.

Sane consumption is possible only if we can drastically curb the right of the stockholders and management of big enterprises to determine their production solely on the basis of profit and expansion.

Such changes could be effected by law without altering the constitutions of Western democracies (we already have many laws that restrict property rights in the interest of the public welfare). What matters is the power to direct production, not ownership of capital. In the long run, the tastes of the consumers will decide what is to be produced, once the suggestive power of advertising is ended. Either the existing enterprises will have to convert their facilities in order to satisfy the new demands, or where that is not possible, the government must spend the capital necessary for the production of new products and services that are wanted.

All these changes can only be made gradually, and with the consent of the majority of the population. But they

amount to a new form of economic system, one that is as different from present-day capitalism as it is from the soviet centralized state capitalism and from the Swedish total welfare bureaucracy.

Obviously, from the very beginning the big corporations will use their tremendous power to try to fight such changes. Only the citizens' overwhelming desire for sane consumption could break the corporations' resistance.

One effective way that citizen can demonstrate the *power of the consumer* is to build a militant consumer movement that will use the threat of "consumer strikes" as a weapon. Assume, for instance, that 20 percent of the American car-consuming population were to decide not to buy private automobiles any more, because they believed that, in comparison with excellent public transportation, the private automobile is economically wasteful, ecologically poisonous, and psychologically damaging—a drug that creates an artificial feeling of power, increasing envy, and helps one to run away from oneself. While only an economist could determine how great an economic threat it would be to the automobile industry— and, of course, to the oil companies — clearly if such a consumer strike were to happen, a national economy centered around automobile production would be in serious trouble. Of course, nobody wants the American economy to be in serious trouble, but such a threat, if it can be made credible (stop using cars for one month,for instance), would give consumers a powerful leverage to induce changes in the whole system of production.

Human Development Report, 1994
(Pub. for UNDP, by Oxford University Press Delhi, 1994)

A new concept of human security

For too long, the concept of security has been shaped by the potential for conflict between states. For too long, security has been equated with the threats to a country's borders, For too long, nations have sought arms to protect their security.

For most people today, a feeling of insecurity arises more from worries about daily life than from the dread of a cataclysmic world event. Job security, income security, health security, environmental security, security from crime—these are the emerging concerns of human security all over the world.

This should not surprise us. The founders of the United Nations had alway given equal importance to people's security and to territorial security. As far back as June 1945, the US secretary of state reported this to his government on the results of the San Francisco Conference:

The battle of peace has to be fought on two fronts. The first is the security front where victory spells freedom from fear. The second is the economic and social front where victory means freedom from want. Only victory on both fronts can assure the world of an enduring peace...No provisions that can be written in to the Charter will enable the Security Council to make the world secure from war if men and women have no security in their homes and their jobs.

Several insights can help in redefining the basic concept of security :

- Human securty is relevant to people everywhere, in rich nations and in poor. The threats to their security may differ—hunger and disease in poor nations and drugs and crime in rich nations—but these threats are real and growing. Some threats are indeed common to all nations—job insecurity and environmental threats, in particular.
- When the security of people is attacked in any corner of the world, all nations are likely to get involved. Famines, ethnic conflicts, social disintegration, terrorism, pollution and drug trafficking are no longer isolated events, confined within national borders. Their consequences travel the globe.
- It is less costly and more humane to meet these threats upstream rather than downstream, early rather than late. Short-term humanitarian assistance can never replace long-term development support.

Most people instinctively understand what security means. It means safety from the constant threats of hunger, disease, crime and repression. It also means protection from sudden and hurtful disruptions in the pattern of our daily lives—whether in our homes, in our jobs, in our communities or in our environment.

A new paradigm of development

To address the growing challenge of human security, a new development paradigm is needed that puts people at the centre of development, regards economic growth as a means and not an end, protects the life opportunities of future generations as well as the present generations and respects the natural systems on which all life depends.

Such a paradigm of development enables all individuals

Human Development Report, 1994 : 183

to enlarge their human capabilities to the full and to put those capabilities to their best use in all fields—economic, social,cultural and political. It also protects the options of unborn generations. It does not run down the natural resource base needed for sustaining development in the future. Nor does it destroy the richness of nature that adds so much to the richness of human life.

Sustainable human development addresses both intra-generational and intergenerational equity—enabling all generations, present and future, to make the best use of their potential capabilities. But it is not indifferent to how present opportunities are actually distributed. It would be odd if we were deeply concerned for the well-being of future—as yet unborn—generations while ignoring the plight of the poor today. Yet, in truth, neither objective today gets the priority it deserves. A major restructuring of the world's income distribution, production and consumption patterns may therefore be a necessary precondition for any viable strategy for sustainable human development.

In the final anyalysis, sustainable human development is pro-people, pro-jobs and pro-nature. It gives the highest priority to poverty reduction, productive employment, social integration and environmental regeneration. It brings human numbers into balance with the coping capacities of societies and the carrying capacities of nature. It accelerates economic growth and translates it into improvements in human lives, without destroying the natural capital needed to protect the opportunities of future generations. It also recognizes that not much can be achieved without a dramatic improvement in the status of women and the opening of all economic opportunities to women. And sustainable human development empowers people—enabling them to design and participate in the processes and events that shape their lives.

A new design of development cooperation

The new demands of global human security require a more positive relationship among all nations of the world—leading to a new era of development cooperation. In such a design, economic partnership would be based on mutual interests, not charity; cooperation,not confrontation; equitable sharing of market opportunities, not protectionism; far-sighted internationalism, not stubborn nationalism.

Several fundamental changes will be required in the present framework of development cooperation.

First, foreign assistance must be linked to commonly agreed policy objective—particularly to poverty reduction strategies, productive employment opportunities and the goals of sustainable human development. During the cold war period, foreign assistance was often given to strategic allies rather than in support of agreed policy objectives. Now is the time for a major restructuring of existing foreign aid allocations.

Second, a certain proportion of existing foreign assistance (equal to, say, 0.1% of the donor countries' GNP) should be channelled to the poorest nations as a global social safety net. This should be clearly earmarked for basic human development priorities (especially basic education and primary health care), and the aim should be to bring all poor nations up to at least a minimum threshold of human development.

Third, the concept of development cooperation should be broadened to include all flows, not just aid—especially trade, investment, technology and labour flows. Greater attention should be paid to the freer movement of non-aid flows, as these are more decisive for the future growth of the developing countries than aid flows. Aid reporting [illegible]

Human Development Report, 199[illegible]

should also be recast to include all flows and to monitor them in a comprehensive fashion.

Fourth, new initiatives for development cooperation should be discussed, including the possibility of introducing a payment for services rendered and compensation for damages suffered. For instance, the rich nations should be prepared to pay the poor nations for certain services that are in the global interest and for which the poor countries may not have sufficient resources themselves—instituting environmental controls, regulating narcotics production and trafficking, controlling communicable diseases, destroying nuclear weapons. Industrial nations should also compensate the developing countries for economic damage they suffer from certain market barriers imposed by the industrial countries, particularly trade barriers and restrictions on magration of unskilled labour.

Fifth, a serious search should begin for new sources of international funding that do not rely entirely on the fluctuating political will of the rich nations. Global taxation may become necessary in any case to achieve the goals of global human security. Some of the promising new sources include tradable permits for global pollution, a global tax on non-renewable energy, demilitarization funds and a small transaction tax on speculative international movements of foreign exchange funds.

Sixth, a new design of development cooperation also demands a new framework of global governance. Most international institutions have weakened precisely at a time of growing global interdependence. All existing institutions need considerable strengthening and restructuring if they are to cope with the new challenges to human security—particlarly the United Nations system and the Bretton Woods institutions. At the same time, a creative debate must start on the shape of global institutions required for

the 21st century.

Chapter 4 offers many concrete proposals on all these aspects of a new development cooperation.

Agenda for the Social Summit

These are the issues the World Summit for Social Development must discuss. It must provide a new vision, a new direction—and lay a solid foundation for a new society.

There are times in the lives of nations when an entirely new vision shapes their destiny. The 1940s were such a watershed—marked by the birth of the United Nations, the launching for the Marshall Plan, the setting up of the Bretton Woods institutions, the initiation of the European Community, the negotiation of new social contracts in the industrial nations and an irresistible movement for the liberation of former colonies. A new world order emerged in the 1940s from the darkness of the Second World War.

Fifty years later, is the world getting ready for yet another profound transition ? The initial signs are encouraging: the democratic transition in formerly communist societies as well as in many developing countries, the end of the cold war, a steady fall in global military expenditures, the opening up of economies, the strengthened prospects for peace in South Africa and the Middle East. The unexpected is becoming almost the commonplace.

At this propitious time, can humanity take yet another decisive step ? The forthcoming Summit offers such an opportunity. Of course, it cannot resolve all the issues facing humanity. Nor can it provide the political will that national leaders alone can provide. But it can, and must, provide a new sense of direction.

The only practical way of achieving this is to focus on a small, manageable number of issues. It is in this spirit that

the following six-point agenda is offered.

A new world social charter—to establish the framework of equality of opportunity among nations and people.

A world social charter

WE THE PEOPLE OF THE WORLD SOLEMNLY PLEDGE to build a new global civil society,based on the principles of equality of oportunity, rule of law,global democratic governance and a new partnership among all nations and all people.

WE PROPOSE to build a society where the right to food is as sacrosanct as the right to vote; where the right to a basic education is as deeply enshrined as the right to a free press and where the right to development is considered one of the fundamental human rights.

WE COLLECTIVELY PLEDGE to build new foundations of human security, which ensure the security of people through development, not arms; through cooperation, not confrontation; through peace, not war. We believe that no provision in the Charter of the United Nations will ever ensure global security unless people have security in their homes, in their jobs, in their communities and in their environment.

WE ARE FULLY CONVINCED that diversity in our societies is our strength, not our weakness, and we intend to protect this diversity by ensuring non-discrimination between all our people, irrespective of gender, race, religion or ethnic origin.

WE COLLECTIVELY BELIEVE that our world cannot survive one-fourth rich and three-fourths poor, half democratic and half authoritarian, with oases of human development surrounded by deserts of human deprivation. We pledge to take all necessary actions, nationally and globally, to reverse the present trend of widening disparities within and between nations.

WE ARE CONVINCED that it is possible to overcome the worst aspects of poverty in our lifetime through collective effort. We jointly affirm that our first step towards this goal will be to design a global compact that ensures that no child goes without an education,no human being is denied primary health care or safe drinking water and all willing couples are able to determine the size of their own families.

WE ARE CONSCIOUS of our responsibility to present generations and to future generations and we are determined to pass on to our children a rich natural heritage and an environment sustained and whole.

WE INTEND to design a pattern of development cooperation based on open global markets, not protectionism; on an equitable sharing of market oppotunities, not charity; on an open policy dialogue between sovereign nations, not coercion.

WE PLEDGE our deep commitment to a new social and economic philosophy that puts people at the centre of our concerns and creates unbreakable bonds of human solidarity.

WE STRONGLY BELIEVE that the United Nations must become the principal custodian of our global human security. Towards this end, we are determined to strengthen the development role of the United Nations and to give it wide-ranging decision-making powers in the socio-economic field by establishing an Economic Security Council.

Capturing the peace divided

Global military spending declined between 1987 and 1994 at an estimated average annual rate of 3.6%, yielding a cumulative peace dividend of $935 billion—$810 billion in industrial countries and $125 billion in developing countries. But it is difficult to track where these funds went. And there has been no clear link between reduced military

Human Development Report, 1994.: 189

spending and enhanced expenditure on human development. Moreover, the poorest regions of the world (especially Sub-Saharan Africa) failed to contain their military spending. Meanwhile, nations continue to compete in the short-sighted business of arms exports.

What is needed now is to continue the pressure for reduced global military spending, to ensure that the poorest regions also cut down their arms spending and to develop a firm link between reduced arms spending and increased social spending.

The next challenge for disarmament is to phase the Third World out of the cold war. This will require new alliances for peace and international and regional forums for disarmament talks. It will also require a defusing of current global tensions and a new resolve on the part of the major powers to address the basic sources of conflicts in the Third World, primarily through the United Nations.

At the same time, the major suppliers of arms must adopt a new ethic of peace, since 86% of the current arms suplies originate from the five permanent members of the Security Council. They must agree to phase out their military assistance and their military bases, regulate the shipment of sophisticated arms and eliminate subsidies to their arms exporters. Foreign assistance must also give the right signals: rather than rewarding high military spenders, as at present, donor countries should reduce allocations of official development assistance (ODA) if a recipient country insists on spending more on its armies than on the social welfare of its people.

Within this perspective, the Social Summit offers an important opportunity to turn from arms to human security. A collective effort must be made at the time of the Summit to:

Agree on a targeted reduction in military spending for the decade 1995-2005—say 3% a year.

Make a clear, explicit link between reduced military spending and increased social spending.

Persuade all nations to allocate a proportion of the potential savings to a global human security fund (discussed below)—say, 20% of the peace dividend in rich nations and 10% in poor nations.

Mandate the United Nations to maintain a list of sophisticated weapons and technologies that should not be exported at all, except under international agreement.

Persuade the industrial nations to close their military bases, phase out their military assistance and eliminate their subsidies to arms exporters over the next three years.

Request the United Nations to strengthen its reporting system under the UN Register of Conventional Armaments, so that up-to-date information on arms and technology transactions is published regularly.

A global human security fund

Human security is indivisible. Famine, pollution, ethnic violence—their conequences travel the globe. Yet responses are still largely national. The Social Summit should therefore consider setting up a global human security fund to finance an international response. The issues the fund could address would include drug trafficking, international terrorism, nuclear proliferation, transmittable diseases, environmental pollution, natural resource depletion, natural disasters, ethnic conflicts and refugee flows.

Separate global compacts can be negotiated in each of these areas. These compacts will deal with "global goods" and "global bads". Some good precedents are the already-concluded compacts on climate change and biodiversity and the current negotiations for a compact on desertification.

Three main sources should be tapped for such a global

fund. First is the peace dividend, discussed above. A fixed proportion of the reductions in global military spending should be credited to the global human security fund—on the grounds that the basic threats to global security have not disappeared but merely taken on new forms.

The peace dividend could be substantial; an annual reduction of 3% in global military spending would yield about $460 billion from 1995 to 2000, of which around $385 billion would be in the industrial world and around $75 billion in the developing world. Not all of this would be available to a global human security fund, because already there are many claims on these savings, including the costs of conversion from military to civilian productions.

But if the rich nations were to allocate only 20% of their peace dividend, as suggested, and the poor nations 10%, this would generate at least $85 billion during 1995-2000, or about $14 billion a year. These figures are purely illustrative. The important point is that the contributions should be automatic and shared globally. One form the fund could take is suggested by Nobel Peace Prize winner Oscar Arias (special contribution, p. 59).

A second logical source of funds for a global response to global threats is a set of fees on globally important transactions or polluting emissions. This is probably some way off, but even at this stage it is worth considering some of the more promising options, two of which are discussed in chapter 4. One is a tax on the international movements of speculative capital suggested by James Tobin, winner of the Nobel Prize for Economics (special conribution, p. 70). Tobin suggests a tax rate of 0.5% on such transactions, but even a tax of 0.05% during 1995-2000 could raise $150 billion a year. Such a tax would be largely invisible and totally non-discriminatory. Another is a global tax on energy: a tax of $1 on each bareel of oil (and its equivalent

on coal) during 1995-2000 would yield around $66 billion a year.

A third major source for the fund could be official development assistance. The current target for ODA allocations by industrial countries is 0.7% of each country's GNP, twice their actual contributions. The first 0.1% of GNP contributed to ODA should be earmarked for a social safely net for poor nations (Chapter 4). But the balance should be linked to specific objective—one of which should be global human security. If donors restructured existing ODA and committed some new funds, they could provide around $20 billion a year to a global human security fund.

These three sources together could raise an annual fund of around $250 billion a year during 1995-2000, seemingly ambitious, but still only around 1% of global GDP.Can humanity do less than this for its collective survival when it has been willing until recently to spend more than 4% of global GDP on the military arsenal ?

Rather than the specific forms of global taxation, it is the basic notion of designing a global response and raising some global financing that the Social Summit should focus on. What is envisaged here is neither a separate fund nor a new institution. The idea is to establish a global account to pool contributions to meet the needs of global human security.

The Social Summit should approve that basic idea of a global human security fund and give the United Nations the mandate to prepare its concrete blueprint.

Towards sustainable human development

The Universalism of life demands non-discrimination between all people, irrespective of gender, religion, race or ethnic origin. And it focuses directly on human beings—respecting national sovereignty but only as long as nation-states respect the human rights of their own people.

Universalism advocates equality of opportunity, not equality of income—though in a civilized society a basic minimum income should be guaranteed to everyone.

The basic thought of unversalism of life claims comes from many pioneers. "It is justice, not charity, that is wanting in the world," wrote Mary Wollstonecraft, the pioneering feminist, in *A Vindication of the Rights of Woman,* published in 1792. In the same year, her friend Thomas Paine published the second part of the *Rights of Man.* Both were concerned with giving everyone—women and men—power over their lives and opportunities to live according to their own values and aspirations.

Historical perspective

Interest in the concept of human development is not new. Nor are the concerns of sustainability. Today's belated return to human development means reclaiming an old and established heritage rather than importing or implanting a new diversion.

The roots of the concept of human development can often be traced to early periods in human history and can be

found in many cultures and religions. Aristotle wrote that "wealth is evidently not the good we are seeking, for it is merely useful and for the sake of something else". A similar strain was reflected in the writings of the early founders of quantitative economics (William Petty, Gregory King, Francois Quesnay, Antoine Lavoisier and Joseph Lagrange) and in the works of the pioneers of political economy (Adam Smith, Robert Malthus, Karl Marx and John Stuart Mill). When Adam Smith, that apostle of free enterprise and private initiative, showed his concern that economic development should enable a person to mix freely with others without being "ashamed to appear in publick", he was expressing a concept of poverty that went beyond counting calories—a concept that intergrated the poor into the main stream of the community.

Throughout this early period, the concept of development treated income and its growth as a means, and directed attention towards a real concern for people—in their individuality and collectivity, in their commonality and diversity. The central concern of development became the quality of people's lives— what they were capable of doing and what they actually did, the discriminations they faced, the struggles they waged and the expanding choices they enjoyed. And this covered not just economic choices but choices in every field in which they could extend control over their lives. The pursuit of material well-being was one of these choices—but it had not yet become the exclusive obsession.

Only during the 20th century did the social sciences become increasingly concerned with economics—and economics with wealth rather than with people, with the economy rather than with the society, with the maximization of income rather than with the expansion of opportunities for people. Although the obsession with materialism may be recent

the preoccupation of economists and policy-makers with augmenting "national treasure", in surplus trade balances, dates back at least to the mercantilists, who preferred to concentrate on material success rather than on the development of human lives.

The dominant contemporary tradition of focusing exclusively on such variables as per capita gross national product or national wealth is a continuation—certainly an intensification—of the old opulence-oriented approach, And it is this low road of regarding humanity as an instrument of production—rather than the high road of acknowledging the universality of life claims—that fits well with the reputation of economics as a "dismal science".

Opulence and human development

Why should there be a tension between wealth maximization and human development ? Is not the former indispensable for the latter ?

Wealth is important for human life. But to concentrate on it exclusively is wrong for two reasons.

First, accumulating wealth is not necessary for the fulfilment of some human choices, In fact individuals and societies make many choices that require no wealth at all. A society does not have to be rich to be able to afford democracy. A family does not have to be wealthy to respect the rights of each member. A nation does not have to be affluent to treat women and men equally. Valuable social and cultural traditions can be—and are—maintained at all levels of income. The richness of a culture can be largely independent of the people's wealth.

Second, human choices extend far beyond economic well-being. Human beings may want to be wealthy. But they may also want to enjoy long and healthy lives, drink deep at

the fountain of knowledge, participate freely in the life of their community, breathe fresh air and enjoy the simple pleasures of life in a clean physical environment and value the peace of mind that comes from security in their homes, in their jobs and in their society.

National wealth might expand people's choice But it might not. The use that nations make of their wealth, not the wealth itself, is decisive. And unless societies recognize that their real wealth is their people, an excessive obsession with the creation of material wealth can obscure the ultimate objective of enriching human lives.

This tension between wealth maximization and human development is not merely academic—it is real. Although there is a definite correlation between material wealth and human well-being, it breaks down in far too many societies. Many countries have a high GNP per capita, but low human development indicators—and vice versa. Countries at similar levels of GNP per capita may have vastly different human development indicators, depending on the use they have made of their national wealth (table 1.1 and figure 1.1) The maximization of wealth and the enrichment of human lives need not move in the same direction.

Some take the view that opulence should not be valued as an end in itself, but that it still is the most important means for promoting the more basic objectives—even the Aristotelian one of ensuring "flourishing lives". To take a prominent example, W. Arthur Lewis—one of the leading modern development economists and a Nobel Prize winner in economics—had little doubt that the apropriate objective is increasing "the range of human choice". He also acknowledged the causal role of many factors in advancing the freedom to choose. But he decided to concentrate specifically on "the growth of output per head", because it "gives man greater control over his environment and thereby increases his

freedom''. Indeed, the focus of his classic books was sufficiently precise to permit him to assert: ''Our subject matter is growth, and not distribution.'' Yet without appropriate distribution and public policy, economic growth may fail to translate into improvement in human lives.

Environmental Degradation

In Sweden about 20000 of the country's 90,000 lakes are acidified to some degree; in Canada, 48,000 are acidic. And the source of the problem in these instances is not only within the country.

The emission of chlorofluorocarbons also has an international, indeed a truly global, effect—as the gases released in individual countries attack the ozone layer. In 1989, reasearch teams found that the ozone layer over Antarctica was reduced to only 50% of its 1979 level. And in 1993, satellite measurements over the heavily populated mid-latitudes of the Northern Hemisphere showed the ozone layer to be at record lows, with serious implications for human health. Ozone filters our ultraviolet radiation, which can lead to various kinds of skin cancer. Between 1982 and 1989 in the United States, the incidence of the most dangerous form of skin cancer, melanoma, rose by more than 80%.

The production of greenhouse gases in individual countries also has a global impact. Layers of these gases, including carbon dioxide and methane, accumulating in the upper atmosphere contribute to global warming because they reflect back infra red radiation that would otherwise escape into space. In 1989, the United States and the former Soviet union were the largest producers of such gases—respectively responsible for 18% and 14% of total emissions. But the effects will be felt all over the globe— and could have their greatest impact on the

poorest countries. With a one-metre rise in sea level partly due to global warming, Bangladesh (which produces only 0.3% of global emissions) could see its land area shrink by 17%.

Biological diversity is more threatened now than at any time in the past. Tropical deforestation is the main culprit, but the destruction of wetlands, coral reefs and temperate forests also figures heavily. Germany and the Netherlands lost nearly 60% of their wetlands between 1950 and 1980. And a recent analysis of tropical forest habitats, which contain 50-90% of the world's species, concluded that at current rates of loss, up to 15% of the earth's species could disappear over the next 25 years. Today, only 45% of the world's temperate rainforests remain.

The trends of the past 20 years show an accelerated destruction of coastal marine habitats, increases in coastal pollution, and in many areas, a shrinking of the marine fish catch. In 1990, the global fish catch declined for the first time in 13 years—a result of overfishing, coastal habitat destruction and water pollution.

Coral reefs will also come under greater pressure. Approximately one billion people will live in coastal cities by 200, increasing the danger to reefs from overfishing, pollution and soil erosion.

As habitats are fragmented, altered or destroyed, they lose their ability to provide ecosystem services—water purification, soil regeneration, watershed protection, temperature regulation, nutrient and waste recycling and atmospheric maintenance. All these changes threaten global human security.

Drug trafficking

The trade in narcotic drugs is one of the most corrosive

threats to human society. Durig the past 20 years, the narcotics industry has progressed from a small cottage enterprise to a highly organized multinational business that employs hundreds of thousands of people and generates billions of dollars in profits (box 2.5). The retail value of drugs, as estimated in a recent study, now exceeds the international trade in oil—and is second only to the arms trade. The main producing countries are Afghanistan, Bolivia, Colombia, Iran, Pakistan, Peru and Thailand. And while consumption is rapidly spreading all over the world, the highest per capita use is reported to be in the United States and Canada. In the United States alone, consumer spending on narcotics is thought to exceed the combined GDPs of more than 80 developing countries. In recent times, the countries of Eastern Europe have also become prominent in drug trafficking—at least 25% of the heroin consumed in Western Europe now passes through Eastern Europe.

Despite the magnitude of the threat, the international community has yet to produce a coherent response. But some individual countries have drawn up their own action plans. In Bolivia, coca producers have been paid to take coca out of produciton—$2,000 a hectare— and since 1989, they have annually converted more than 5,000 hectares of land to other crops.

But such lone efforts are not an effective, durable answer. As long as the demand persists, so will the supply. The real solution has to lie in addressing the causes of drug addiction—and in eradicating the poverty that tempts farmers into drug production.

The international narcotics trade

Narcotic drugs have become one of the biggest items of international trade, with the total volue of drug trafficking

estimated at around $500 billion a year. The OECD estimates that $85 billion in drug profits is laundered through financial markets each year, of which $32 billion passes through the United Kingdom.

Since almost all the production and trade in these drugs is illegal, statistics are notoriously unreliable. The largest exporter of cocaine is probably Colombia, followed by Peru and Bolivia, while Myanmar seems to be the leading source of heroin, Pakistan is one of the major exporters of cannabis. One study of the nine major producing contries estimated their annual production of cocaine at around 300 tons, heroin at around 250 tons and cannabis at well over 25,000 tons.

Drug addiction causes immense human distress. And the illegal production and distribution of drugs have spawnd worldwide waves of crime and violence. International efforts to stamp out this noxious trade began more than 80 years ago, when opium was brought under international jurisdiction. Since then, there have been numerous conventions and conferences on drug abuse and illicit trafficking, In 1990s the General Assembly of the United Nations declared the 1990s the UN Decade against Drug Abuse.

But thus far, efforts to eliminate the drug menace have prompted rather more righteous indignation than effective action—mainly because the costs of significantly reducing production or consumption are just too high. Successfully eradicating crops like opium or coca demand offering farmers equally valuable alternative crops. But given the high prices for drugs, this is almost impossible. In Bolivia, the coca-cocaine industry is thought to be worth as much as 20% of GNP.

Most efforts at stifling drug production have brought limited benefits. Eradicating crops in one place tends to

shift production elsewhere. When Mexico suppressed marijunan production, it sprang up in Colombia. When Thailand managed to reduce opium crops, producers moved to Myanmar and the Lao People's Democratic Republic.

Reducing consumption is equally difficult. Many wealthy and educated people use small amounts of drugs much as they might use alcohal and tobacco—and are prepared to risk the consequences. But many of the heaviest drug users are poor and desperate—seeking some kind of anaesthesia for the hopelessness of their lives. For them, drugs may be dangerous, but they have little left to lose. This underclass is not limited to the industrial countries. The United States is the largest single market for drugs, but developing countries, particularly those that are drug producers, also have serious addiction problems. Pakistan, for example, is thought to have more than one million herin users, and Thailand has around 5,00,000 addicts.

One radical alternative is decriminalization. This would reduce the violence and crime associated with drugs and allow for production and consumption in less squalid and dangerous circmstances. The risk, however, is that it might increase overall consumption.

In the end, probably the only solution will be to remove the kind of social distress that feeds drug addiction and to promote human development, which can strengthen families and communities and offer young people more productive outlets for their time and energies.

International terrorism

Violence can travel from one country to another through conventional warfare—and through terrorism.

Between 1975 and 1992, there were an average of 500

international terrorist attacks a year. Bombings are the most common type of incident (60%), followed by armed attacks, and in individual years there have also been large numbers of arson attacks or aircraft hijackings. The peak in recent decades was in 1987, with 672 incidents. In 1992, the number dropped to 362, the lowest since 1975.

Between 1968 and 1992, the number of annual casualties was never less than 1,000, and 1985 was the worst year, with 3,016 casualties—816 people killed and 2,200 wounded. Most of the victims have been the general public—though in 1980-83 the majority were diplomats, and in the past two years most attacks have been made against businesses. While the number of their victims may not look high, the fear that these attacks spread among the world's population at large is immense.

The focus of terrorist activity tends to move around the world. Until the early 1970s, most incidents were in Latin America. Then the focus switched to Europe. In the mid 1980s, most of the incidents were in the Middle East. And now, terrorist incidents take place all over the world. Terrorism, with no particular nationality, is a global phenomenon.

Needed policy action

This discouraging profile of human insecurity demands new policy responses, both nationally and internationally. Over the past five decades, humankind gradually built up an edifice of global security—an edifice or nuclear deterrents, power balances, strategic alliances, regional security pacts and international policing through the superpower and the United Nations.

Global military expenditures and the peace divided
(US$ billions in 1991 prices and exchange rates)

	1987	1988	1989	1990	1991	1992	1993 (est)	1994 (est)	Total 1987-94
Actual military spending									
World	995	970	945	890	855	815	790	767	7,027
Industrial countries[a]	850	835	815	760	725	690	669	649	5,993
Developing countries	145	135	130	130	130	125	121	118	1 034
Actual cumulative peace dividend									
World	0	25	50	105	140	180	205	228	933
Industrial countries	0	15	35	90	125	160	181	201	807
Developing countries[a]	0	10	15	15	15	20	24	27	126

	1995	1996	1997	1998	1999	2000	Total 1995-2000
Projected military spending[b]							
World	744	722	700	679	659	639	4,143
Industrial countries[a]	630	611	593	575	558	541	3,508
Developing countries	114	111	107	104	101	98	635
Potential cumulative peace dividend							
World	23	45	67	88	108	128	459
Industrial countries[a]	19	38	56	74	91	108	386
Developing countries	4	7	11	14	17	20	73

a. China is included in the group of industrial countries for this comparison
b. Assuming an annual reduction of 3%

Disarmament in industrial countries

The dramatic changes in the international political climate have not been matched by correspondingly steep falls in military spending in industrial countries. The general policy is to continue with the programmes of the 1970s and 1980s. Some weapons procurement has been postponed, and some projects have been cancelled. But the principal policy is "a litle less of the same", with little effort to design an entirely new security system.

This is question partly of scale and partly of momentum. The huge commercial and military organizations are fairly inflexible, and cutting arms production and procurement can bring serious problems. Cuts in research and development tend to be even slower since governments generally wish to maintain their capacity to acquire

state-of-the-art weapons systems, even if they do not buy as many. Governments are also nervous about potential new threats—particularly ethnic and territorial conflicts in Europe. In these circumstances, decision-makers and military personnel are tempted to hold on to existing structures.

Opposition to change can come from different directions. Arms producers raise the spectre of job losses, so they lobby their governments to buy more weapons, provide higher subsidies and give more support to exports. Local politicians fearing unemployment also argue against the closure of factories and military bases. And within the armed forces, officers and soldiers protest being demobilized.

This opposition has slowed the process but not stopped it—chiefly because of budgetary pressures. In the United States, government policy is to cut military spending as a way of reducing the huge budget deficit. And in the 12 countries of the Commonwealth of Independent States, the mounting economic diffculties have also prompted sharp reductions. The initial cuts are usually the easiest, but domestic budgetary pressures should drive military spending down further. A target reduction of 3% a year during 1993-2000 may be fairly feasible in industrial nations given the actual cuts of about 4% a year during 1987-92.

Western Europe has not yet reduced its spending much. The most expensive arms project—the four-nation Eurofighter, designed to fight the communist enemy—is going ahead despite the disappearance of the East-West conflict. Elsewhere, there have even been increases in arms production. Australia and Japan have long-term commitments to retain or even expand their arms industries.

Nor should one set aside the nuclear threat: although reduced, it has by no means disappeared. The reductions envisaged in the START I and II treaties, for example, called

for the removal of more than 20,000 warheads from the arsenals of nuclear weapons states—but not a single warhead has been dismantled so far. Several states continue to pursue nuclear weapons programmes. This could stall hopes of removing the nuclear threat.

The continuing nuclear threat

The most welcome effect of the end of the cold war has been the reduced risk of a nuclear catastrophe, but the threat has by no means disappeared. One major concern is the reduction of today's stock of nuclear weapons. The United States and the Soviet Union (or the successor states) have signed the Intermediate-range Nuclear Forces Treaty (1987) and the two treaties on the reduction of strategic offensive arms— START I (1991) and STARTII (1993). These have helped reduce tension,but they have important limitations. They specify, for example, that warheads be removed from delivery systems, but they do not specify that the warheads be destroyed. Indeed, neither the United States nor Russia has a technically or politically feasible plan to dismantle warheads or dispose of their nuclear components—so the warheads could represent a threat for generations to come. The breakup of the Soviet Union has also complicated matters since agreements now have to be made with the successor states. However, Ukraine has recently ratified START I, which enables START II to come into force.

The other major concern is nuclear proliferation. In addition to the five acknowledged nuclear powers (China, France, Rassia, the Unitd Kingdom and the United States) and three successor states of the former Soviet Union with nuclear weapons on their territory (Belarus, Kazakhstan and Ukraine), only three other states are presumed to have nuclear weapons or the ability to deploy them on short notice (India, Israel and Pakistan). At least four other

countries are believed to aspire to nuclear weapons status (Algeria, the Democratic Republic of Korea, Iran and Iraq.) Libya and Syria are thought to have similar ambitions but lack the resources to mount a credible threat. On the positive side, three other states appear to have halted nuclear weapons development (Argentina, Brazil and South Africa).

So far, 157 countries have signed the 1967 Non-proliferation Treaty, and there are proposals to extend the treaty indefinitely after 1995. But there are doubts that the treaty will hold. Some countries disagree in principle—Complaining that the treaty establishes a "nuclear apartheid" by offering a distinct advantage to the early adopters of nuclear weapons. And some developing countries are also reluctant to agree to restraints that can prevent them from acquiring important technology that also has non-nuclear uses.

There are practical problems, too. The treaty relies heavily on the control of technology transfers, and this has proved difficult to coordinate among exporting countries. It also relies too much on threats by bigger powers and not enough on a shared incentive system.

A more fundamental problem is that some countries still feel threats from their neighbours and regard the possession of nuclear weapons as an effective deterrent. As in the industrial countries, the only way to discourage the production of nuclear weapons is to remove the causes of conflict.

Human development index

HDI rank	Life expectancy at birth (year) 1992	Adult literacy rate (%) 1992	Mean year of schooling 1992	Literacy index	Schooling index	Educational attainment 1992	Real GDP per capita (ppps) 1991	Adjusted real GDP per capita	Human development index 1992	GNP per capita rank minus HDI rank
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
High human development	74 1	97.3	9 8				14 000		0 886	
1. Canada	77 2	99 0	12 2	0 99	0 82	2 80	19,320	5,347	0.932	10
2. Switzerland	77 8	99.0	11 6	0 99	0 77	2 75	21,780	5,370	0 931	-1
3. Japan	78.6	99 0	10 8	0.99	0 72	2 70	19,390	5,347	0 929	0
4. Sweden	77.7	99 0	11 4	0 99	0.76	2.74	17,490	5,342	0.928	0
5. Norway	76 9	99 0	12 1	0 99	0 80	2.78	17,170	5,341	0.928	0
6 France	76.6	99.0	12 0	0.99	0 80	2.78	18,430	5,345	0 927	7
7. Australia	76.7	99.0	12.0	0.99	0 80	2.78	16,680	5,339	0 926	11
8. USA	75.6	99.0	12 4	0 99	0 83	2 81	22,130	5,371	0 925	1
9. Netherlands	77.2	99 0	11.1	0 99	0.74	2 72	16,820	5,340	0 923	7
10. United Kingdom	75 8	99 0	11 7	0 99	0 78	2 36	16,340	5,337	0 919	9
11. Germany	75 6	99.0	11 6	0.99	0 77	2 75	19,770	5,347	0 918	1
12 Austria	75 7	99.0	11.4	0 99	0 76	2 74	17,690	5,343	0 917	2

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
13. Belguim	75.7	99.0	11.2	0.99	0.75	2.73	17,510	5,342	0.916	2
14. Iceland	78.1	99.0	9.2	0.99	0.61	2.59	17,480	5,342	0.914	-6
15. Denmark	75.3	99.0	11.0	0.99	0.73	2.71	17,880	5,343	0.912	-8
16. Finland	75.4	99.0	10.9	0.99	0.72	2.70	16,130	5,336	0.911	-10
17. Luxembourg	75.2	99.0	10.5	0.99	0.70	2.68	20,800	5,364	0.908	-15
18. New Zealand	75.3	99.0	10.7	0.99	0.71	2.69	13,970	5,310	0.907	6
19. Israel	76.2	95.0	10.2	0.95	0.68	2.58	13,460	5,307	0.900	6
20. Barbados	75.3	99.0	9.4	0.99	0.63	2.61	9,667	5,255	0.894	14
21 Ireland	75.0	99.0	8.9	0.99	0.60	2.58	11,430	5,295	0.892	6
22. Italy	76.9	97.4	7.5	0.97	0.50	2.45	17,040	5,340	0.891	-5
23. Spain	77.4	98.0	6.9	0.98	0.46	2.42	12,670	5,303	0.888	0
24. Hong Kong	77.4	90.0	7.2	0.90	0.48	2.28	18,520	5,345	0.875	-2
25 Greece	77.3	93.8	7.0	0.94	0.46	2.34	7,680	5,221	0.874	10
26. Cyprus	76.7	94.0	7.0	0.94	0.47	2.35	9,844	5,257	0.873	4
27. Czechoslovakia	72.1	99.0	9.2	0.99	0.62	2.60	6,570	5,196	0.872	29
28. Lithuania	72.6	98.4	9.0	0.98	0.60	2.57	5,410	5,154	0.868	35
29. Estonia	71.2	99.0	9.0	0.99	0.60	2.58	8,090	5,229	0.867	15
30. Latvia	71.0	99.0	9.0	0.99	0.60	2.58	7,540	5,218	0,865	15
31. Hungary	70.1	99.0	9.8	0.99	0.65	2.63	6,080	5,182	0.863	23
32 Korea, Rep. of	70.4	96.8	9.3	0.97	0.62	2.55	8,320	5,233	0.859	4
33. Uruguay	72.4	96.5	8.1	0.97	0.54	2.47	6,670	5,199	0.859	20

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
34. Russian Federation	70.0	98.7	9.0	0.99	0.60	2.57	6,930	5,205	0.858	15
35. Trinidad and Tobago	70.9	96.0	8.4	0.96	0.56	2.48	8,380	5,234	0.855	11
36. Bahamas	71.9	99.0	6.2	0.99	0.41	2.39	12,000	5,299	0.854	-10
37. Argentina	71.1	95.5	9.2	0.96	0.62	2.53	5,120	5,120	0.853	6
38. Chile	71.9	93.8	7.8	0.94	0.52	2.39	7,060	5,208	0.848	28
39. Costa Rica	76.0	93.2	5.7	0.93	0.38	2.24	5,100	5,100	0.848	36
40. Belarus	71.0	97.9	7.0	0.98	0.47	2.42	6,850	5,203	0.847	10
41. Malta	75.7	87.0	6.1	0.87	0.41	2.15	7,575	5,219	0.843	-9
42. Portugal	74.4	86.2	6.4	0.86	0.43	2.15	9,450	5,252	0.838	-5
43. Singapore	74.2	92.0	4.0	0.92	0.27	2.11	14,734	5,313	0.836	-22
44. Brunei Darussalam	74.0	86.0	5.0	0.86	0.33	2.05	14,000	5,310	0.829	-15
45. Ukraine	70.0	95.0	6.0	0.95	0.40	2.30	5,180	5,135	0.823	23
46. Venezuela	70.1	89.0	6.5	0.89	0.43	2.21	8,120	5,230	0.820	9
47. Panama	72.5	89.6	6.8	0.90	0.45	2.25	4,910	4,910	0.816	23
48. Bulgaria	71.9	94.0	7.0	0.93	0.47	2.33	4,813	4,813	0.815	28
49. Poland	71.5	99.0	8.2	0.99	0.54	2.52	4,500	4,500	0.815	30
50. Colombia	69.0	87.4	7.5	0.87	0.50	2.25	5,460	5,157	0.813	41
51. Kuwait	74.6	73.9	5.5	0.74	0.37	1.85	13,126	5,306	0,809	-23
52. Mexico	69.9	88.6	4.9	0.89	0.32	2.10	7,170	5,211	0.804	-1
53. Armenia	72.0	98.8	5.0	0.99	0.33	2.31	4,610	4,6100	0.801	20

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
Medium human development	68 0	80 4	4 8				3,420		0.649	
54. Thailand	68.7	93 8	3.9	0.94	0 26	2.14	5,270	5,144	0 798	28
55. Antigua and Barbuda	74.0	96 0	4.6	0.96	0.31	2 23	4,500	4,500	0.796	015
56. Qatar	69 6	79 0	5 8	0 79	0 39	1.97	14,000	5,310	0.795	36
57. Malaysia	70 4	80 0	5.6	0 80	0.37	1.97	7,400	5,215	0.794	4
58 Bahrain	71 0	79 0	4 3	0.79	0 29	1.87	11,536	5,296	0.791	-25
59. Fiji	71.1	87 0	5.1	0 87	0 34	2 08	4,858	4,858	0.787	15
60. Mauritius	69 6	79 9	4.1	0.80	0 28	1 87	7,178	5,211	0.778	5
61. Kazakhstan	69 0	97.5	5 0	0 98	0 33	2.28	4,490	4,490	0.774	10
62. United ArabEmirates	70 8	65 0	5 6	0.65	0 37	1.67	17 000	5,340	0.771	-52
63. Brazil	65 8	82 1	4.0	0 82	0 27	1 91	5,240	5,142	0.756	-11
64. Dominica	72 0	97.0	4 7	0.97	0.31	2 25	3,900	3,900	0.749	-2
65. Jamaica	73 3	98 5	5 3	0.99	0 35	2 32	3,670	3,670	0.749	22
66. Georgia	73 0	99.0	5 0	0.99	0.33	2.31	3,670	3,670	0.747	14
67. Saudi Arabia	68.7	64.1	3 9	0 64	0.26	1 54	10,850	5,289	0.742	-36
68. Turkey	66.7	81 9	3 6	0 82	0 24	1.88	4,840	4,840	0.739	10

Weakening social fabric of Industrial Comtries

HDI rank	Prisoners (per 1,00,000 people) 1980-86	Juveniles (as % of total prisoners) 1980-86	Intentional homicides by men (per 1,00,000) 1985-90	Reported rapes (per 1,00,000 women age 15-59 1987-89	Drug crimes (per 1,00,000 people) 1980-86	Asylum applications received (thousands) 1983-92	Divorces (as % of marriages (contracted) 1987-91	Births Outside marriage (%) 1985-92	Single-female parent homes (%) 1987-91	Suicides by men (per 1,00,000 1989-91
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
1 Canada	94	.	2 7	23	225	236	43	23	..	20
2 Switzerland	54	..	1.1	18	129	181	33	6	4	34
3 Japan	.	.	0 9	5	31	4	22	1	5	21
4 Sweden	..		1 7	43	..	252	48	52	6	27
5 Norway			1 6	20	116	37	45	34	.	23
6 France	40	1	1 4	17		318	39	32	7	30
7. Australia	60	6	2 5	44	403	24	35	16	..	21
8. USA	426	..	12.4	118	234	508	48	27	8	20
9 Netherlands	27	3	1 2	26	38	111	30	12	5	12
10 United Kingdom	77	5	1 6	.	.	139	42	31	10	12
11. Germany	77	12	1 2	26	.	1,498	33	15	8	28
12 Austria	87	.	1 4	27	77	144	36	22	.	35

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
13. Belgium	27	14	2 3	..	40	85	32	12	7	32
14. Icland	..	.	0.6	.	..	..	19	..	6	22
15. Denmark	47	..	1.4	35	176	59	49	47	6	30
16. Finland	75	8	4.1	19	..	9	58	..	10	49
17. Luxembourg	..	.	1 6	..	..	2	39	13	3	25
18. New Zealand	60	..	2.6	..	..	..	38	25	8	23
19. Isreal	..	32	0.5	4	25	..	19	1	..	11
21. Ireland	.	3	1.2	..	..	..	..	18	..	14
22. Italy	60	13	2.5	4	6	65	8	7	2	11
23. Spain	49	20	1.7	12	15	43	11	10	3	12
25. Greece	24	12	1.2	.	..	36	14	3	..	6
27. Czechoslovakia	..	.	1.3	12	..	3	32	..	..	30
31. Hungary	142	7	3.5	31	..	57	37	9	..	58
41. Malta	..	..	0.6	2	..	..	..	1	..	6
42. Portugal	58	12	2.3	5	13	4	13	16	6	15
48. Bulgarid	160	2	4.0	21	..	(.)	20	12	..	23
49. Poland	204	11	2.5	19	..	3	17	5	..	24
72. Romania	..	..	..	.	..	1	20	..	..	13
76. Albania	..	..	..	..	..	..	..	..	..	
Aggregates										
Industrial	..		5 4	48	..	3,820T	34	17	..	21

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
Developing	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..
World	..	.	..	..	..	..	..	..	..	..
OECD	201	..	5 0	51	..	3,760T	34	20	7	20
Eastern Europ										
and former Soviet Union	..	..	6.9	..	..	..	34	13	..	..
Eastern Europe only	186	..	2 6	19	..	64T	22	7	..	26
European Community	59	..	1.6	17	..	2,360T	28	19	6	19
Nordic	..	..	2.1	32	..	360T	50	46	7	32
Southern Europe	53	..	2.1	7	..	150T	10	9	3	11
Non-Europe	370	..	7.9	74	178	770T	39	19	7	20
North America	393	..	11.5	109	233	740T	48	27	8	20
Successor states of the former Soviet Union										
28. Lithuania	..	..	..	..	..	..	36	7	..	..
29 Estonia	..	..	..	..	..	..	47	25	..	..
30. Latvia	..	.	..	..	..	..	46	16	..	..
34. Russian Federation	..	..	9 0[a]	..	..	..	42	14	..	35[a]
40. Belarus	..	.	..	..	..	..	35	8	..	..
45. Ukraine	..	..	..	..	..	..	40	11	..	..
53. Armenia	..	..	..	..	..	..	..	..	..	
61. Kazakhstan	..	.	..	..	..	..	..	..	..	..
66. Georgia	..	..	.	..	..	..	..	..	..	..

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
71. Azerbaijan	..	.	.	..	..	..	..	..	..	..
75. Moldova, Rep. of	..	..	..		..	..	31	10	..	..
80. Turkmenistan	..	.	..	..	..	..	..	..	..	..
82. Kyrgyzstan	.	.	..	..	..	..	..	..	..	..
91. Uzbekistan	.	.	.	..	..	..	..	..	..	..
97. Tajikistan	..	..	.	..	..	..	..	..	..	..

a. Data for former Soviet Union

Earth in the Balance
by A L Gore (Senator)

Such theories border on intellectual arrogance, especially in light of the inability of classical economics to deal with the idea of accounting for lost natural resources. Just as our current system of economics makes absurd and unrealistic assumptions about the information actually available to real people in the real world, it insists upon equally absurd assumptions that natural resources are limitless "free goods."

This assumption stems in part from the fact that the system of national income accounts was established by John Maynard Keynes before the end of the colonial era, during which supplies of natural resources did indeed seem limitless. In fact, it is not entirely coincidental that much of the worst environmental devastation today is taking place in countries that have emerged from their colonial status only in the last generation. Patterns of abusive exploitation of the environment have a momentum that is difficult to reverse—especially if the prevailing economic assumptions were set in place by those who were primarily interested in removing the natural resources from these countries.

Accounting blindness is not limited to the valuation of products alone, however. According to the First Law of Thermodynamics, neither matter nor energy can be either created or destroyed; natural resources, therefore, are transformed into both useful products, called goods, and harmful by-products, including what we sometimes call

pollution. Not surprisingly, our economic system measures the efficiency of production, or "productivity", in a way that keeps better track of the good things we produce than the bad. But every production process creates waste; why isn't it accounted for ? If a country produces huge amounts of aluminium, for example, why isn't the calcium fluoride sludge, an inevitable by-product, accounted for ?

Indeed, inprovements in productivity—the single most significant measure of economic "progress'—are currently calculated by a method that embodies yet anothr absurd assumption: if a new technique has both good and bad consequences, it is permissible, under some circumstances, to measure only the good and simply ignore the bad. When the number of good things produced with each unit of labour, raw materials, and capital go up—usually because somebody has cleverly figured out a "better" way to perform the task at hand—then productivity is said to increase. But what if the clever new process results not only in the increased production of good things but also in an even larger increase in the number of bad things ? Shouldn't that count ? After all, it may cost a lot of money to deal with the consequences of the extra bad things.

And the absurdity doesn't stop here. Later, when expenditures are required to clean up the pollution, they are usually included in the national accounts as another positive entry on the ledger. In other words, the more pollution we create, the more productive contributions we can make to national output. The *Exxon Valdez* oil spill in Prince William Sound, and efforts to clean it up , to take one example, actually increased out GNP.

Classical economics also fails to account properly for all the costs associated with what we call consumption. Every time we consume something, some sort of waste is created, but this fact is conveniently forgotten by classical

economists. When we consume millions of tons of chlorofluorocarbons (CFCs) each year, are they gone ? If so, then what is eating the hole in the ozone layer ? When we consume 14 million tons of coal each day and 64 million barrel of oil, are they gone ? If so, where is all the extra carbon dioxide (CO_2) in the atmosphere coming from ?

None of these hidden costs is accounted for properly; indeed, the way our economic system measures productivity doesn't make *sense even within the logic of the system itself.* It is almost as if the ultrarational "economic man" of classical theory actually believes in magic.

New World Order

Konark Publishers, Delhi, 1991

Ed. by Sundeep Waslekar

(a) The scientific and technological dimensions, specifically the development and widest possible distribution of "green" technologies, as a common interest of North and South. *In addition major cooperative scientific projects*, among others in the field of biotechnology, will be necessary in anticipation of rapid population increase and of the various impacts of global warming, like the rise of sea-levels, increased water-salinity, and changes in agricultural and fishing patterns. Sustained efforts should also be undertaken to find satisfactory solutions to the anomaly that international competitiveness, generally requiring labour saving technologies, only aggravates the overwhelming problem of Third World unemployment.

(b) A global, equitable and effective energy regime, that includes ecologically sensitive energy policies at the national level in industrial and developing countries alike.

(c) An adequate compensatory scheme for the conservation of tropical rain forests.

(d) An early settlement of the Third World debt problem before the collapse of political stability makes solutions even more difficult.

(e) While human resource development is not a new issue, it is important not to approach this problem simply in

terms of formal education and training in specific skills. Rapid changes in the labour market as a result of technological advances require a capacity of flexibility and a nurturing of the motivation for such flexibility. Also a deliberate effort should be made in human resource development to include the whole population, and specifically the poor and the marginalised. What is needed is what might be called a multimedia and interactive "poor man's learning system."

(f) In this light a major review of Technical Assistance is called for. Technical Assistance has become very much donor-driven. The enhancement of institutional and staff capabilities of the developing country concerned, has somehow become less important than the supply of expatriate experts, a development that absorbs a disproportionate share of available resources and leads to unnecessary dependency. Such a review should include an investigation into the constraints on the availability and use of local consultants. Such a review should include comparative pay-scales, employment structures etc.

(g) Present structural adjustment policies are generally of a short-term character aimed primarily at the needs for debt-servicing. It is important to review these policies so as better to be able to serve the longer term needs for economic growth.

Economics of the New Order

We not only need "new thinking" in international relations, but we also need "new feelings" for one another—especially for the poor and the powerless. T new world order must be based on international econ justice. Political and military equilibrium requ n equilibrium.

For real security, we must convert wa

New

civilian economies. We must begin with the lowering of military forces, both strategic and conventional, in terms of armament as well as personnel, at least by 50 per cent. Weaponry which may be relased due to arms reduction agreements in the North should be destroyed, and not exported to the South. Plants and personnel including scientists hitherto engaged in military production should be gradually employed in civilian production.

Decentralization of economic power is necessary for sustaining the New Order so that the future does not solely depend on one or two superpowers. Because of the futility of military strength inVietnam, Afghanistan, Europe and everywhere else in the world, power is increasingly being measured in terms of economic strength. But it is necessary to translate economic strength into attitudes of cooperation and not arrogance since superpower status entails superpower responsibilities.

Responsible behaviour is essential both from the powerful as well as the powerless. The powerful may behave badly but so can the powerless. We will never make progress unless those without power realize that those in power can also be on their side. Conscience is not the prerogative of one side.

Governance in the New World

If a country is to be able to participate positively in the governance of the world, its internal governance must be based on peace, progress and justice.

Models of liberal democratic political systems and mixed economy where slowly and steadily improving economic performance is accompanied by political stability, are much more peace-oriented than models of politcal stability without economic growth or vice versa.

Democracy makes it possible for all groups in a country

to participate freely in the management of their own affairs. Military dictatorships which make it possible for only one or two groups to dominate the system should be undermined as there has never been a war between two democracies in the modern history.

Success of democracy depends on fairplay. It involves balance and equity in allocation of national resources, evenhandedness of the government in its dealings with citizenry, demonstratable appreciation of citizens opinions and equal and same application of human rights to all the people. Human rights is a human responsibility. It cannot be left to legislators and bureaucrats.

Since the focus of violence is shifting from international to domestic conflicts, democratic institutions should be built in such a way that they are capable of addressing the problem of national identities.

Recognition of ethnic factor in both economic planning and political power sharing is important. With a view to resolving problems of ethnic groups it is important to address the problems of backward areas. When two unequal provinces coexist with each other, social strife and unrest can take place.

Flexibility is essential for democratic governance since rigid adherence to abstract theorising does not help.

Successful governance should result in providing food, health care and other basic amenities to all citizens. But more important, it should result in providing purpose for all.

Governance in the New World does not depend on the government alone. It is proved that the public opinion can make big changes. Therefore, nongovernmental organizations should be involved in global and national decision-making. On the other hand, nongovernmental organizations should try to work with the state wherever possible.

Institutions of the New World

Many people dream of the World Parliament as the long-term aim of the New World. But we must think of workable institutions for the foreseeable future. We must strengthen and restructure the United Nations. The present system of five permanent members of the Security Council needs to be reviewed. Since Europe is emerging as one entity in 1992, UK and France having two separate vetoes may be questioned. The nonaligned bloc should be given a place among permanent members of the Security Council.

In the short term, we have to work towards strengthening the regime of the International Court of Justice supported by the UN Peace-Keeping Forces.

In the immediate future, a demilitarized world can only be achieved by a steady process of treaty implementation and by the development of reliable procedures and norms for the peaceful settlement of disputes. Treaty negotiations on strategic arms reduction, comprehensive test ban, chemical weapons ban, are in progress. The challenge is to give the international law sufficient strength and protection to serve as an effective guarantor of national and international security. This can be done by integrating treaty administration regimes into the growing web of international structures.

While all UN agencies can play a positive role in the process of change, the UNESCO requires a special mention. At a time when all ideologies have collapsed, the UNESCO can play the role of a catalyst in developing new thinking.

Outside the United Nations, reshaping of other institutions is necessary. The NATO and the WTO should be converted from military alliances into political blocs and held collectively responsible for the security of all of Europe.

Cooperation between East and West Europe which is so

essential for stability of the entire world should not be merely military or political. It must involve economics, science, technology, culture and other aspects of human endeavour.

International institutions must be capable of striking a balance between the necessity of international relations and national identity. For example, the European Community achieves a balance through a system whereby the Commission decides what might be collectively desirable while the Council decides what might be nationally aceptable.

The nonaligned movement also needs to organise itself through an institution which can achieve balance between collective and national interests.

Global Economic Summit presently limited to G-7 countries should be expanded to include a few selected representatives of the developing countries.

The North and South should be able to establish institutions for transfer of sustainable technologies. For example, centres of learning in the developing world.

Institutions for inter national peace should be linked to institutions for internal peace. Democracy was introduced in Eastern Europe as a result of crisis and not as a result of evolution. We must, therefore, develop social institutions for crisis management at both international and national level.

One area where linkages between international and national institutions for crisis management is particularly necessary is environment. Many people support the idea of an Emergency Environmental Aid Centre within the UN connected to a planetary network of environmental monitoring and control.

One of the most important institutions of the current period, the media, should be allowed to function with freedom which must be exercised with responsibility. Since

no message is value-neutral, the media should know how to strike a balance between what is specific to a given society and what might be universal.

Good management of institutions is essential in the new world. We must not force change since nature always triumphs over reason. We must make spiritual profit. Like an individual an organization also has a spirit and gains made by the spirit of the organization cannot be measured in pounds, yen or dollars.

Human Quality for the New World

Good management of institutions requires inner stability of those who manage them. Having a correct understanding of human nature and an awareness of mission is important for inner peace and stability. Human beings must have confidence in their greatness and in their responsibilities and mission.

The final defense of the faith is more influential in our time than Pareto's law. It does not concern the ideas of economists; rather it removes from them any sense of social or moral obligation. Things may be less than good, less than fair, even less than tolerable; that is not the business of the economist as an economist. Because of the claim of economics that it should be considered a science, it must separate itself from the justice or injustice, the pain and hardship, of the system. The economist's task is to stand apart, analyze, describe and where possible reduce to mathematical formulae, but not to pass moral judgement or be otherwise involved.

Already in the first half of the last century this point had been made strongly by Nassau Senior. As navigation is separate from astronomy and astronomers do not offer advice on guiding a ship, so, he held, the science of political economy has no concern for practical or moral issues, and

economists need not or should not offer advice or criticism thereon.

In later decades this rejection of practical questions and judgments was strongly affirmed. An influential voice in doing so was that of William Stanley Jevons, who in *The Theory of Political Economy* was moved to declare "Economics, if it is to be a science at all, must be a mathematical science."[1] From a mathematical science moral values are obviously extruded.

The detachment and the justifying commitment to scientific validity as opposed to social concern are especially influential in our own time. When acting in his professional role, the economist does not contend with the justice or benignity of classical or neoclassical economics; to do so is to deny scientific motivation. To proclaim economic injustice or failure, to pass qualitative judgment on economic performance or to prescribe too freely for its improvement is, scientifically speaking, off limits.

Perhaps, as a practical matter, it is well that all economists do not address social and moral concerns or involve themselves in practical issues. The result could well be a deafening clamour of voices. But the history must not be denied : the pretension of economics that it is a science is firmly rooted in the need for an escape from blame for the inadequacies and injustices of the system with which the great classical tradition was concerned. And it continues to serve as the defense for a quiet, noncontroversial professional life even today.

There remained one—just one—course. That was government intervention to the level of inverse spending— government borrowing and spending for public

1 William Stanley Jevons, The Theory of Political Economy, 5th Edition (New York : A.M. Kelley, 1965), p. 3.

purposes. A deliberate deficit . This alone would break the underemployment equilibrium by, in effect, spending—wilfully spending—the unspent savings of the private sector. It was a powerful affirmation of the wisdom of what was already being done under the force of circumstance.

Such are the hard essentials of the Keynesian Revolution. They were not so put by Keynes. The economic discussion that followed the publication of *The General Theory* wrestled endlessly and pleasurably with the complexities and obscurities of the book. There was a certain professional satisfaction in surrounding them with a veil of mystrey; what learned scholars struggled to master, the layman could hardly be expected to understand.

One feature of the Keynesian Revolution went largely unmentioned: impressed with how much had changed, economists did not pause to reflect on how much remained unchanged. Henceforth the state would be responsible for the overall performance of the economy. There would be disagreement as to the measures to be employed; there would be no disagreement as to the responsibility of the government or, at a minimum, of the central bank. The belief in autonomous full employment at stable prices, eccentricity apart, was gone. However, instruction and debate as to how full employment and price stability could be achieved would now be separated off into a special branch of economics, which would be called macroeconomics.[1] In an especially tasteless contraction, some economists would refer to their speciality as "macro" Left untouched and untroubled by

1. With no slight damage to economic understanding. As will later be noted,economic life is of a piece, and the separation between macroeconomics and microeconomics prevented a proper appreciation of the strong macroeconomic influence on microeconomic developments, that of the modern corporation and trade union and the interaction of wages and prices in particular.

Keynes was what would be called microeconomics or, in equally repellent professional slang, just "micro". In microeconomics the market was as before, also the business firm and the entrepreneur.

As these pages have surely made sufficiently clear, economics does not usefully exist apart from politics, and so it will not, one hopes, in the future. The political asymmetry of the Keynesian Revolution—the asymmetry of the political actions required to remedy general underemployment as compared with those to arrest a general excess of demand— has been adequately observed. Failure to recognize the practical consequences of this was, as it remains, one of the major misjudgments in modern economics. Another serious mistake has been the belief that monetary policy is politically and socially neutral—that the revenue that high interest rates return to those who lend money has been other than a rational manifestation of the self-interest of those with money to lend. Wrong, as well, has been the failure to recognize the political role of economics itself in the dialectic between the business enterprise and the state. The continuing survival of classical theory can be understood. The continuing survival of classical theory can be understood only when it is seen that classical beliefs protect business autonomy and its income and serve to obscure the economic power exercised as a matter of course by the modern enterprise by declaring that all power rests, in fact, with the market.

The separation of economics from politic: and political motivation is a sterile thing. It is also a cover for the reality of economic power and motivation. And it is a prime source of misjudgment and error in economic policy. No volume on the history of economics can conclude without the hope that the subject will be reunited with politics to form again the larger discipline of political economy.

So we come to the end of this journey. Some things, one hopes, are clear. The past, we have seen, is not a matter of passive interest; it actively and powerfully shapes not alone the present but the future. Where economics is involved, history is highly functional. The present is not to be understood in neglect of the past.

It will also, one trusts, be sufficiently clear that economics does not exist apart from context—apart from the contemporary economic and political life that gives it form or the interests, implicit or explicit, that shape it to their need. Economic ideas, as Keynes averred, do guide policy. But the ideas are also the offspring of policy and of the interests which it serves.

The long reach of history establishes another truth. That is the way change in economic life and institutions bears on all economic thought. Economics is not, as often believed, concerned with perfecting a final and unchanging system. It is in a constant and often reluctant accommodation to change.

Environment Development and Education Cultural, Ethical and Spiritual Perspectives

Ed. R.P. Misra, A Ghafoor Ghaznawi

Vijai P. Singh

Ever increasing economic growth and life sustaining ecological balance do not appear to go together. Man is now forced to make a deliberate choice between want-based economic growth and need-based economic transformation; between power to control nature and willingness to live with nature; between ecological disaster and ecological harmony; and between lot of goods and lot of goodwill. The choice is not easy.

To make headway, global as well as local resources must be mobilized; each nation and each community must commit itself to taking strong action within its own sphere of influence. International agencies, particularly the family of United Nations Institutions have to impress upon the member states to evolve environment sensitive development styles. New global forums like UNEP must be adequately funded to assist the member states exchange views and arrive at meaningful solutions. Other United Nations agencies must further strengthen the sections dealing with environmental issues.UNESCO for example has a strong section of Environmental Education which needs continuing and increasing support.

There is, however, a limit to what global organizations can do. Each nation must commit itself to taking strong action within its own borders. National resources have to be mobilized on an unprecedented scale to combat the problems of environmental degradation and thus to ward off impending ecological disaster.

One of the major resources whose potentials are yet to be explored is the culture of the people. All ancient cultures had evolved life cycles which were in tune with the laws of nature. They were based on the realization that nature's laws cannot be changed, they can be broken though.But breaking the laws of nature sooner or later invited disaster.

Need for Paradigmatic Intergration

Ultimate solution of the problems of the environment lies in environmental education.Unless the individual man and women see the dangers ahead and act accordingly, governmental programmes, howsoever well formulated, are bound to fail

There are clear indications of environment friendly technologicla developments. There may be breakthroughs in certain sectors. So, there are possibilities of technological solutions to some of the symptomatic problems. But the root cause of environmenal problems cannot be eliminated by technology. New problems will surface as old ones disappear. New solutions would be sought and found providing evidences of progress, but the ecological imbalance will increase and living environment further vitiated.

As stated earlier, the root cause lies in our attitude, in our style of life, in our way of thinking and in our world view. Our attitude towards nature, towards cultures; towards life; and towards ourselves as become so superficially rational, shortsighted, and individualistic, that we are becoming

unconcerned about ourselves, leave aside about our children. We have become so reckless that someone has to remind us that we should do nothing which will jeopardise our life and the life of our children. Of course, there is no rational reason why we should bother about the future. There is no reason why we should sacrifice our interests for the interests of our children ? Why should we look after our elderly people who make no contribution to our welfare ? Survival of the species is the basic instinct of all that is living— human beings included. And instinct is not irrational—perhaps it belongs to still higher rationality, a rationality linked with the very purpose of life.

Did the Cartesian world-view not appear rational to everyone ? Even today, western education system built on these premises continues to propagate this view. It is not possible for 'believers', to convert themselves into non-believers overnight except under very special circumstances. Paradigmic changes take time. Usually they take place through, paradigm transformation rather than replacement. It took more than two centuries for the development and scientific worldviews to replace the holistic ecological world view of the past. This transformation took place unnoticed and became visible only when its ill effects became obvious.People tend to stick to the Cartesian view because it does favour them individually in the shortrun. Who these people are ? They are those who belong to the upper and upper middle classes of the society. The poor still live by their traditional ethos and values wherein the distinction between man and nature, and man and rest of life is not so clear. For them man is not juxtaposed against nature; not is nature only a resou exploitation. Man and nature are two sides of the same Man uses nature in order to protect nature; and perhaps, exists, to help man to achieve greater pe.ı

Thus there is a disjuction between the values of those who had the privilege of going through institutionalized western education and those who had the opportunity to acquire experiential knowledge through traditional family and societal channels. The latter is non-Cartesian in essence; while the former is basically Cartesian. In this respect there is no difference between North and South except that in the South people belonging to the authentic traditional group are far larger in number than in the North.

There is merit in both paradigms. The Cartesian paradigm has given rise to modern science and techonology which, inspite of its inherent weaknesses, must be considered as one of the greatest achievements of humankind. This is also called scientific or developmental paradigm. While the other which sees life as a unified whole and emanating from a single omnipotent source, had produced the great philosophies of the world. The great religions and cultures are its byproducts. Man does not live by bread alone. Beyond the bread is the search for meaning in life; the search for an answer to the question "Who AM I" ? We may refer this as the non-Cartesian spiritual or holistic world-view. The stage has now come when the two worldviews—the world view of the literate, and that of the laity must merge into one so that science is spiritualized and spirituality is rationalized. When such a situation evolves, the science will not run amuck, nor would spirituality turn magical. This will then give rise to a new system of values , a new system of ethics, and a new meaning to life.

Culture-environment Nexus : Some Basic Considerations

By Suresh Misra

Within a quarter of a century, a sea change has taken place in the outlook of the reflective people about the future of humankind. Just 25 years ago, it was rare to meet a person who was not confident about the continued and infinite rise of the material standard of living of the people of the earth. Even the less fortunate peoples of exploited colonies exhibited firm faith in the Western model of development. Growth and development—two words, but with one meaning, spread like wild fire engulfing the remotest Pacific islands, the highest Himalayan valleys, and even the uninhabited frozen Antarctica.

Inspite of the spectre of 'the bomb', the memories of the two World Wars and the depression in between, the lurking fear of social unrest, famines, Malthusian ghost and communist menance, not few of the marchers saw these fears as unfounded. A great majority of the people and their leaders considered them controllable.

Rarely did anyone found it necessary to look for alternative paths, as if the history had become handmaid of economics and geography could ever be the real wealth of nations. Adam Smith reigned supreme in capitalist, socialist, communist and third world countries alike.

Report of the Expert Group on Estimation of Proportion and Number of Poor

(Pub. Perspective Planning Division, Planning Commission, Govt. of India, New Delhi, July 1993)

Definition of Poverty Line

2.2 Defining a poverty line is the first step in estimating poverty. A poverty line dividing the poor from the non-poor is used by putting a price on the minimum required consumption levels of food, clothing, shelter, fuel and health care, etc. The definition of poverty line in the Indian context was attempted for the first time in 1962 by a Working Group of eminent Economists and social thinkers after taking into account the recommendations of the Nutrition Advisory Committee of the Indian Council of Medical Reasearch (ICMR, 1958) regarding balanced diet. The Working Group,[1] comprising Prof D.R. Gadgil, Dr. B.N. Ganguli, Dr. P.S. Lokanathan, Shri M. R. Masani, Shri Ashok Mehta, Shri Pitambar Pant, Dr. V.K.R.V. Rao, Shri

---

1. See for reference : "Perspectives of Development : 1961-1976, Implications of Planning for a Minimum Level of Living" (Paper prepared in the Perspective Planning Division of the Planning Commission)- in Bardhan and Srinivasan (1974) : Poverty and Income Distribution in India". Statistical Publishing Society, Calcutta.

Shriman Narayan, Shri Anna Saheb Sahasrabuddhe, set up by the Seminar on Some Aspects of Planning, after considerable discussion on minimum standard of living, recommended (in 1962) that :

(i) The national minimum for each household of 5 persons (4 adult consumption units) should be not less than Rs. 100 per month in terms of 1960-61 prices or Rs. 20 per capita. For urban areas, this figure will have to be raised to Rs. 125 per month per household or Rs. 25 per capita to cover the higher prices of the physical volume of commodities on which the national minimum is calculated.

(ii) This national minimum excludes expenditure on health and education, both of which are expected to be provided by the State according to the Constitution and in the light of its other commitments.

Official Methodology and Issues in Poverty Estimation

3.1 Following the recommendations of the Task Force on Projections of Minimum Needs and Effective Consumption Demand' (1979), the Planning Commission has been estimating the proportion and number of poor separately for rural and urban India at national and State levels. These estimates have been released from the year 1972-73 onwards, using the full survey data on household consumption expenditure collected by the National Sample Survey Organisation (NSSO) at an interval of five years. The estimates are available for the years 1972-73, 1977-78, 1983-84 and 1987-88. The methodology behind these estimates, often termed as the 'official methodology' has been outlined in the following sections.

The Pasis of Official Estimates

3.2 Calorie Norm : The official estimates are based on a calorie norm of 2400 calories per capita per day for rural areas and 2100 calories per capita per day for urban areas. The poverty line for the base year 1973-74 has been taken as the per capita expenditure level at which these calorie norms have been met, on an average, for the country as a whole, as per the NSS household consumption expenditure survey for the corresponding year.

3.3 **Poverty Line in the Base Year :** The Task Force (1979) defined the poverty line as the per capita expenditure level at which the calorie norms were met on the basis of the all-India consumption basket for 1973-74. This was equivalent to Rs. 49.09 and Rs. 56.64 per capita per month for rural and urban areas respectively at 1973-74 prices.

3.4 **Deflators :** The poverty line so defined needs updating over time to task care of changes in the price levels. Initially the wholesale price index was used to reflect the price changes.However, private consumption deflator derived from the National Accounts Statistics (NAS) was recommended for this purpose by a Study Group on 'The Concept and Estimation of Poverty Line', (Perspective Planning Division, Planning Commission, November, 1984). The Study Group recommended the use of a price index for reflecting price changes relevant to the poor. The implicit private consumption deflator from NAS was found, at that time to be very close to such an index and hence it was used for adjusting the poverty line for the years 1977-78, 1983-84 and 1987-88.

3.5 **The Adjustment Procedure for Estimating Poverty Population :** In order to arrive at the estimates of the number of poor, Planning Commission has been making

adjustment in the National Sample Survey (NSS) data on distribution of households by consumption expenditure levels, such an adjustment has been felt to be necessary because the aggregate private household consumption expenditure as estimated from the NSS data is different from the aggregate private consumption expenditure estimated in the National Accounts Statistics (NAS). It was considered desirable to have compatibility between the two sets of data in order to ensure consistency between the two important components of the plane model, i.e., the input-output table (based on NAS) and consumption sub-model (based on NAS data). The procedure followed has been to adjust the expenditure levels reported by the NSS uniformly across all expenditure classes by a factor equal to the ratio of the total private consumption expenditure obtained from the NAS to that obtained from the NSS. The old NAS series was used for deriving the adjustment factor for the estimates up to year 1983 and the new NAS series has been used for the 1987-88 estimates.

3.6 The poverty population is, thus, estimated by applying the updated poverty line to the corresponding adjusted NSS distribution of households by levels of consumption expenditure. To estimate the incidence of poverty at the State level, all-India poverty lines and the ajustment factors have been used on the State specific NSS distribution of households by levels of consumption expenditure uniformly across the States. These official estimates are presented in tables1 and 2 respectively.

Issues in Poverty Estimation

3.7 The methodology followed in official estimates of poverty at national and at State levels, as outlined above, has been regarded by some as inappropriate and even inadequate in giving a representative picture of incidence

of poverty in India. Infact, the use of state level estimates of poverty in allocating plan resources for poverty alleviation programmes has brought this debate into sharper focus. The States have become very sensitive about their respective estimates of poverty. Representations have been received from some of the State Governments. Scholars and academicians have also raised conceptual and metholological issues in this regard. The adoptation of uniform calorie norms and fixed consumption basket, base year price differentials and uniformity of deflators across the States as also the practice of adjusting the NSS distribution have been widely contested. These and other related issues are discussed in what follows.

The Base-Year Consumption Basket

3.8 The poverty line has been anchored in a given calorie norm and the corresponding all-India consumption basket for the year 1973-74. The poverty line needs to be updated overtime for changes in price levels relevant to the consumption of the people around the poverty line. Updating the poverty line over time can be done in two ways :

(a) The poverty line as estimated for the base year (i.e. 1973-74) can be updated for changes in prices overtime.

(b) A fresh poverty line can be calculated from the latest available consumer expenditure survey data using the procedure suggested by the Task Force.

Table 1
Number and percentage of Population below poverty Line by states 1983-84 (Officially Released Estimates)

S No	State	Rural		Urbn		Combined	
		No Lakhs	% age	No Lakhs	% age	No lakhs	% age
(0)	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
1	Andhra Pradesh	164.4	38 7	40 7	29 5	205 1	36 4
2.	Assam	44 9	23 8	4 9	21 6	49 8	23 5
3	Bihar	329 4	51 4	36 1	37 0	365 5	49 5
4	Gujarat	67 7	27 6	19.9	17 3	87 6	24 3
5	Haryana	16 2	15 2	5 5	16 9	21 7	15 6
6	Himachal Pradesh	5 8	14 0	0 3	8 0	6 1	13 5
7	Jammu & Kashmir	8 1	16 4	2 2	15 8	10 3	16 3
8	Karnataka	102 9	37.5	34 7	29 2	137 6	35 0
9	Kerala	55 9	26 1	15 6	30 1	71.5	26 8
10	Madhya Pradesh	218 0	50 3	36 9	31 1	254 9	46 2
11	Maharashtra	176 1	41 5	55 9	23 3	232 0	34 9
12.	Manipur	1 3	11.7	0 6	13 8	1 9	12 3
13	MeghaLaya	3 9	33.7	0 1	4 0	4 0	28 0
14.	Orissa	107 7	44 8	10 4	29 3	118 1	42 8
15	Punjab	13 7	10 9	10 7	21 0	24 4	13 8
16	Rajasthan	105 0	36 6	21 2	26 1	126 2	34 2
17	Tamil Nadu	147 6	44 1	52 6	30 9	200 2	39 6
18	Tripura	4 6	23 5	0 5	19 6	5 1	23 0
19	Uttar Pradesh	440 0	46 5	90 6	40 3	530 6	45 3
20	West Bengal	183 9	43 8	41 2	26 5	225 1	39 2
21	Nagaland and All Union Territories	17 9	47 4	14 4	17 7	32 3	27 1
	All India	2215 0	40 4	495 0	28 1	2710 0	37.4

Notes (1) The above estimates are derived by using the poverty Line of Rs. 101 8 per capita per month for rural areas and the poverty Line of Rs 117 5 per capita per month for urban areas at 1983-84 price's corresponding to the poverty lines of Rs 49 1 and Rs 56 6 respectively for 1973-74

(2) The number of persons below poverty Line relates to the population as on 1st March, 1984

Table 2
Number and Percentage of Population Below Poverty Line by
states 1987-88 (Officially Released Estimates)

S No	State	Rural		Urbn		Combined	
		No Lakhs	% age	No Lakhs	% age	No lakhs	% age
(0)	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
1	Andhra Pradesh	153 1	33 8	42 6	26 1	195 7	31 7
2	Assam	50 4	24 5	2 5	9 4	52 9	22 8
3	Bihar	300 3	42 7	36 1	30 0	336 4	40 8
4	Gujarat	56 2	21 2	17 1	12 9	73 3	18 4
5	Haryana	13 5	11 7	4 7	11 7	18 2	11 6
6	Himachal Pradesh	4 4	9 7	0 1	2 4	4 5	9 2
7	Jammu & Kashmir	8 4	15 5	1 4	8 4	9 8	13 9
8	Karnataka	102 8	35 9	33 7	24 2	136 5	32 1
9	Kerala	37 4	16 4	11 6	19 3	49 0	17 0
10	Madhya Pradesh	194 0	41 5	30 9	21 3	224 9	36 7
11	Maharashtra	166 9	36 7	47 2	17 0	214 1	29 2
12	Orissa	124 2	48 3	10 9	24 1	135 1	44 7
13	Punjab	9.6	7 2	4 3	7 2	13 9	7 2
14	Rajasthan	80 5	26 0	19 0	19 4	99 5	24 4
15	Tamil Nadu	138 4	39 5	38 5	20 5	176 9	32 8
16	Uttar Pradesh	373 1	37 2	75 2	27 2	448 3	35 1
17.	West Bengal	137 2	30 3	36 3	20 7	173 5	27.6
18	Small States & UT's	9 3	11 8	4 9	4 7	14 2	7 7
All India		1959 7	33 4	417 0	20 1	2376 7	29 9

Notes (1) The above estimates are derived by using the poverty line of Rs 131 8 per capita per month for rural areas and 152 1 per capita per month for urban areas at 1987-88 prices, corresponding to the povety lines of Rs 49 1 and Rs 56 6 respectively for 1973-74

(2) The number of persons below poverty line relates to the population as on 1st March, 1988

A Letter From The Publisher Span (magazine) May, 1993

Now, the American system may be facing its stiffest challenges ever. In a thought-provoking essay this month management guru Peter *F. Drucker asserts that America and the world at large, are at one of those seminal turning points in history that occur only every 200 years or so. Drucker discusses the exit of communism and socialism from the world's stage and says that capitalism as we know it is also on the way out, "The one thing we can be sure of," he writes, "is that the world that will emerge from the present rearrangement of values, of beliefs, of social and economic structures of political concepts and systems, of worldviews, will be different from anything anyone today imagines."*

One thing I cannot imagine is that *America will lack the flexibility and resiliency to deal with new challenges. The ability to adapt quickly, to innovate and improvise, is inherent in our system and can be glimpsed in several of our articles this month.*

For instance, Dan Moskowitz, in an article on trends and developments in *America's business schools,* notes that, "Business education in the United States is not static; both the curriculum and the teaching methods change constantly as the needs and style of business change." That may sound like pretty tame stuff, until you consider the turmoil that some of America's major corporations, such as Sears and IBM, are going through. These once impregnable behemoths

are 'struggling to renew themselves in the face of strong competition from smaller companies that, in these days of rapid change, are proving to be much more agile at developing and marketing products and services to meet consumer needs. The smaller companies apparently are finding it easier to employ new techniques and approaches that their executives learned—in business school.

One of the easiest places to see change in America is in the arts. Jazz, that uniquely American creation, is the personification of improvisation. We have a packet of articles devoted to developments and personalities in the jazz world.

Michael Jordan, the man on our cover, is the maestro of improvisation on the basketball court. A revolution in satellite television transmissions has made him the most famous athlete in the world. This is just another example of the swift changes that Drucker says are taking place in the world.

Which reminds me what Abraham Lincoln once said, "Be not deceived. Revolutions do not go backward."

—S.F.D

Is Capitalism Coming to an End ?

Every few hundred years in Western history there occurs a sharp transformation. Within a few short decades, society—its worldview, its basic values, its social and political structure, its arts, its key institutions—rearranges itself. Fifty years later there is a new world. And the people born then cannot even imagine the world in which their grandparents lived and into which their own parents were born. We are currently living through such a transformation.

One such transformation occurred in the 13th century, when the Western world suddenly, almost overnight, became centered on the new city. There was the emergence of the city guilds as the new dominant social class; the revival of long-distance trade; the appearance of the Gothic, that eminently urban new architecture; the new painting of the Sienese; the shift to Aristotle from theology as the foundation of new wisdom; the new urban universities replacing the monasteries in their rural isolation, as the centres of culture; the new urban religious orders, the Dominicans and Franciscans, the carriers of religion, of learning, of spirituality; and within a few decades, the shift from Latin to the vernacular, with Dante creating a European literature.

Two hundred years later, the next transformation took place. It happened in the 60 years between Gutenberg's invention of printing with movable type and with it the printed book in 1455, and Luther's Protestant Reformation in 1517. These were the years of the blossoming of the

Renaissance (peaking between 1470 and 1500 in Florence and Venice); of the rediscovery of Antiquity; of the discovery of America; of the first standing army (the Spanish Infantry) since the Roman Legions; of the reinvention of the study of anatomy and with it of scientific inquiry in general; and of the widespread adoption of Arabic numerals in the West, providing a new case of computation. And again, no one living in 1520 could easily have imagined the world in which his grandparent had lived and into which his parents had been born.

The next transformation began in 1776— the year of the American Revolution, of Watt's perfected steam engine, and of Adam Smith's Wealth of Nations. It came to a conclusion 40 years later, at Waterloo—40 years during which all modern "isms" were born. During these years capitalism, communism, and the Industrial Revolution emerged. These 40 years produced, in effect, a new European civilization. Again, no one living in 1820 could easily imagine the world in which his grandparents had lived and into which his parents had been born. One had to read novels to learn about that world.

A New Era

Our time, 200 years later, is again such a period of transformation. Only this time it is not confined to Western society and Western history. Indeed, one of the fundamental changes is that there is no longer a "Western" history or a "Western" civilization. There is only world history and world civilization—the creation, to be sure, of western history and Western civilization. Whether this transformation began with the emergence of the first non-Western country, Japan, as a great economic power (that is, around 1960) or with the first computer (that is , with information becoming central) is debetable. My own

candidate would be the American G.I. Bill of Rights after World War II, which gave every returning American soldier the money to attend a university—something that would have made absolutely no sense only 25 years earlier at the end of World War I. The G.I. Bill of Right, and the enthusiastic response to it on the part of America's veterans, signalled the shift to the knowledge society. We are still in the middle of this transformation—indeed, if history is any guide, it will not be completed until 2010 or 2020. But already it has changed the political, economic, social, and moral landscape of the world. No one born in 1990 will easily imagine the world in which his grandparents (i.e, my generation) grew up, or the world into which his own parents were born.

The first successful attempt to understand the transformation that began in 1455 and turned the Middle Ages and Renaissance into the Modern World was not even attempted until 50 years later, with the *Commentaries* of Copernicus (written between 1510 and 1514), Machiavelli's *The Prince* (written in 1513), Michaelangelo's synthesis and transcendence of all Renaissance art in the ceiling of the Sistine Chapel (painted between 1510 and 1512), and the reestablishment of the Catholic Church in the Tridentine Council of the 1530s. Similarly, the next transformation—the one that occurred 200 years ago, ushered in by the American Revolution—was first understood and analyzed 60 years afterward, in Alexis do Tocqueville's *Democracy in America*, written between 1835 and 1840.

We are today far enough advanced into the new post-capitalist society—because the post-industrial society is really that —to review and revise the social, economic, and political history of the age of capitalism and of the nation-state. To foresee what the post-capitalist world itself will look like is, however, still very risky. What new

questions will arise and where the big new issues will lie, we can, I believe, already discover with a high degree of probability. We can also, in many areas, describe what will not work. But "answers" are in most cases still hidden in the future. The one thing we can be sure of is that the world that will emerge from the present rearrangement of values, of beliefs, of social and economic structures, of political concepts and sysems, of worldviews, will be different from anything anyone today imagines. But in some areas—and especially in society and its structure—basic shifts have already happened. That the new society will be both a non-socialist and a post-capitalist society is practically certain. And it is certain also that its primary resource will be knowledge and that, therefore, it will have to be a society of organizations. In politics we have already shifted from the 400 years of the sovereign nation-state to a pluralism in which the nation-state will be one rather than the unit of political integration. It will be a component—although still a key component—in what I call the "post-capitalist polity," a system in which transnational, regional, nation-state and local, indeed tribal structures compete and coexist.

These things have already occurred. They can therefore be described.

Only 20 years ago "everybody" knew that a post-capitalist society would be of a Marxist complexion. Now we all know that a socialist society is the one thing the next society is not going to be. But most of us also know—or at lest sense—that the developed countries are moving away from anything that could be called "capitalism." The market will surely remain the effective integrator of economic activity. But as a society the developed countries have also already moved into post-capitalism with new " classes" and a new central "resource."

Capitalist society, as it peaked in the 19th century, was dominated by two social classes: The "capitalists," who owned and controlled the means of production, and the 'workers." The "workers" eventually became the "affluent" middle class as a result of what has been called the "productivity revolution"—the revolution that began at the very time of Marx's death in 1883, and reached its climax in every developed country shortly after World War II. Around 1950, the industrial worker—no longer a "proletarian" but still "labour"—seemed to dominate politics and society in every developed country. But then, with the onset of the "management revolution," blue-collar workers in manufacturing industry rapidly began to decline both in numbers and even more in power and status. By the year 2000 there will be no developed country in which traditional workers making and moving goods account for more than one-sixth or one-eighth of the work force.

The capitalist probably reached his peak even earlier—by the turn of the century, and surely no later than World War I. At least no one since has been able to match in powe. and visibility the likes of Morgan, Rockefeller, Carnegie, and Ford in the United States; of Seimens, Thyssen, Rathenau, and Krupp in Germany; of Mond, Cunard, Lever, Vickers and Armstrong in England; of de Wendel and Schneider in France; or of the families that owned the great *zaibatsu* of Japan—Mitsubishi, Mitsui, and Sumitomo. By the time of World War II they had all been replaced by "professional managers." There are still a great many very rich people around, of course, and they are still prominent in the newspapers' society pages. But they have become "celebrities." Economically they have almost ceased to matter. The head of a corporation who retires with $50 million, or even double that amount, is an economic nonentity.

Today it is the well-established pension funds that increasingly control the supply and allocation of money in developed countries. In the united State in 1991 these founds owned half the capital of the country's largest businesses and held almost as much of these companies' fixed debts. The beneficiary owners of the pension funds are, of course, the nation's employees. If "socialism" is defined as ownership of the means of production by the employees, then the United States has become the most "socialist" country around—while still being the most "capitalist" one as well. And the pension funds are run by a new breed of "capitalists"—the faceless and anonymous employees who run the pension funds as investment analysts and portfolio managers.

But equally important: The real and controlling "resource" and the absolutely decisive "factor of production" today is neither capital, nor land, nor labour. It is knowledge. And instead of "capitalists" and "proletarians,' the relevant "classes" of the post-capitalist society are "knowledge workers" and "service workers."

The Shift to the Knowledge Society

The move to the post-capitalist society began shortly after World War II. But only with the collapse of Marxism as an ideology and of communism as a system did it become clear that we have already moved into a new and different society.

The moral, political, and economic bankruptcy of Marxism, and the collapse of the communist regimes, were not "The End of History." Even the staunchest believers in the free market surely hesitate to trumpet its triumph as the Second Coming. But 1989 and 1990 did indeed signify the end of one kind of history. They brought to a close 250 years that were dominated by a secular religion— what I have called "belief in salvation by society." Its first prophet was

Jean-Jacques Rousseau. The Marxist utopia was its ultimate distillation and apotheosis.

But the same forces that destroyed Marxism as an ideology and communism as a social system are also rapidly making capitalism as a social order obsolescent. For 250 years, from the second half of the 18th century on, capitalism was the dominant social ideology. Both are rapidly being superseded by a new and very different society and way of thinking about the world.

Whatever this new society will be, it will not be a *socialist one* . It surely—to say it again—will use the free market as the one proven mechanism of economic integration. *It surely will not be an* "anticapitalist society." It will not even be a "non-capitalist society": the institutions of capitalism will survive, though some (e.g. banks) *may play quite different roles. But the new society—and it is already here—is a "post-capitalist" society.* Its centre of gravity, its strucure, its social and economic dynamic, its social classes, and its social problems are different from those that characterized the last 250 years, dominated them, informed them, and defined the issues around which political parties, social groups, social value systems, and personal and political commitments crystallized.

The basic economic resource is knowledge. The wealth-creating activities will be neither the allocation of capital to productive uses no "labour"—the two poles of 19th-and 20th-century economic theories whether classical, Marxist, Keynesian, or neoclassical. They will centre around "*productivity*" *and* "*innovation*", both *applications of knowledge to work.* The representative social groups of the knowledge society will be neither the "capitalist" nor the "worker", the two groups that characterized society since the Industrial Revolution 250 years ago. *The ruling group will be knowledge workers, knowledge executives.*

knowledge professionals, and knowledge entrepreneurs who have the insight to allocate knowledge to productive use, the way the "capitalists" knew how to allocate capital to productive use. Practically all of them will be employed, either originally or eventually, in organizations. Yet unlike traditional employees, these *knowledge workers own their knowledge, the new "means of production", and can take it with them wherever they go.* The economic challenge of the post-capitalist society will therefore be the productivity of knowledge work and the knowledge worker.

But there will also be a second representative group—I call them "service workers"—who will lack the necessary education to be knowledge workers. And in every country, even the most highly advanced ones, they will constitute a majority. *The social challenge of the post-capitalist society will thus be to ensure the dignity of service work and the service worker.*

The post-capitalist society will also be divided by a new dichotomy of values and of aesthetic perceptions. It will not be the "two Cultures"—the humanist, literary culture and the scientific culture of which the English novelist, scientist, and government administrator C.P. Snow wrote—though that split is real enough. It will be a dichotomy between "literati" and "managers," the former being concerned with words and ideas, the latter with people and work. To transcend this dichotomy in a new synthesis will be a central philosophical and educational challenge for the post-capitalist society.

The late 1980s and early 1990s also marked the end of another era, another "Kind of history." If the fall of the Berlin Wall in 1989 was the climactic event that symbolized the fall of Marxism and Communism, *the formation of a transnational coalition opposing Iraq's invasion of Kuwait was the climactic event that marked the end of the 400 years*

of history in which the sovereign nation-state was the main—and often the only—actor on the political stage. Future historians will surely rank January 1991 among the big dates". There is no precedent for such transnational action, no earlier occasion where nations, without a single dissenter of consequence (and almost without dissent altogether), put the common interest of the world community in putting down terrorism ahead of their own national sentiments and, in many cases, ahead even of their own national interests. There is no precedent for the all-but-universal realization that terrorism is not a matter of "politics" to be left to individual national governments, but rather a threat that requires non-national, transnational action.

Outflanking the Nation-State ?

In the 400 years since the French lawyer-politician Jean Bodin invented it (in his 1576 *book Six Livres de la Republique)*, the nation-state had become the sole organ of political power, internally and externally, And since the French Revolution it had also become the carrier of the secular religion, the belief in "salvation by society." Totalitarianism—communist as well as Nazi—was the ultimate distillation and apotheosis of the doctrine of the sovereign nation-state as the one and only organ of power.

Political theory and constitutional law still know only the sovereign state. And in the last 100 years it has steadily become more powerful and more dominant. It has mutated into the "mega-state." it is also the one political structure we so far understand, are familiar with, and know how to build out of prefabricated and standardized parts— an executive, a legislature, courts, a diplomatic service, a national army, and so on. Every one of the 200 -odd new countries that have ben carved out of the former colonial

empires has been set up as a sovereign nation-state. And this is what every one of the various parts of the last of the colonial empires, the Soviet empire, aspires to become.

Yet since the end of World War II the *sovereign nation-state has steadily been losing its position as the one organ of power*. It is fast becoming instead one among many such organs. *Internally, devloped countries are fast becoming pluralist societies of organizations. Externally, some governmental functions are becoming transnational, others regional (i.e., the European Economic Community), others are beign tribalized.*

The nation-state is not going to "wither away". It may remain the most powerful political organ around for a long time to come. But it will no longer be the *indispensable one, and will increasingly share power with other organs, other institutions, other policymakers. We are moving fast towards the "post-capitalist" polity.* And the division of power, the division of tasks, the division of responsibilities and accountabilities between the various levels of this post-capitalist polity *are still to be defined:* What is to remain the domain of the nation-state ? What is to be carried out within the state by autonomous institutions ? *What is to be "supernational"* ? What is to be *"transnational"? What is to be* "separate and local ?" Resolving these questions will be the central political agenda for decades to come. In its specifics, the outcome is quite unpredictable. But whatever it will be, *the political order 50 years hence will look different from the political order of the last centuries,* when the actors differed in size, wealth, constitutional arrangements, and political creed but were uniform as nation-states, each sovereign within its territory, and each defined by its territory.

The last of what might be called the "pre-modern" philosophers, Gottfried Leibnitz (1646-1716), spent much

of his life in a futile attempt to restore the unity of Christendom. His motivation was not the fear of religious wars between Catholics and Protestants or between Protestant sects —that danger was already past when Leibnitz was born. But he feared that without a common belief in a supernatural God, secular religions would emerge. And a secular religion, he was convinced, would—almost by definition—have to be a tyranny and suppress the freedom of the individual.

A century later Jean-Jacques Rousseau proved Leibnitz right by asserting that society could and should control the individual human being. *It could and should create a "New Adam". It could and should create universal human perfection.* But it also could and should subordinate the individual to the impersonal, super-personal "general will" (*volonte' ge'ne'rale*)— what Marxists later came to call the "objective laws of history." Since then salvation by society has been the dominant creed of Western Man. And however much it pretends to be *"anti-religious," it is a religious belief. The means are, of course, non-spiritual: Banning liquor; killing all Jews; universal psychotherapy; abolition of private property.* The goal, however, is religious: To establish the Kingdom of God on Earth by creating the "New Man."

And for more than one hundred years the most powerful, the most pervasive and near-universal of these secular creeds, with their promise of salvation through society, was, of course, Marxism. Indeed it was the religious promise of Marxism—far more than its convoluted ideology and its increasingly unrealistic economic theory—that constituted its tremendous appeal, especially to intellectuals.

Communism collapsed as a system. It collapsed economically. Its material promisess proved hollow. Instead of creating wealth it created misery.Instead of creating

economic equality it created a nomenclature of functionaries enjoying greater economic privileges than the world had ever seen. But as a creed, Marxism collapsed because it did not create the "New Man". Instead it brought out and strengthened all the worst in the "Old Adam": Corruption, greed, and lust for power; envy and mutual distrust; petty tyranny and secretiveness; lying, stealing, and denunciarion.



आचार्य महाप्रज्ञ की प्रमुख कृतियां

- नया मानव : नया विश्व
- समस्या को देखना सीखें
- महावीर का अर्थशास्त्र
- मन के जीते जीत
- किसने कहा मन चंचल है
- अपने घर में
- चेतना का ऊर्ध्वारोहण
- जैन योग
- एकला चलो रे
- आभामण्डल
- मैं हूं अपने भाग्य का निर्माता
- महावीर की साधना का रहस्य
- एसो पंच णमोक्कारो
- मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- मनन और मूल्यांकन
- आमंत्रण आरोग्य को
- कर्मवाद
- अहिंसा और शान्ति
- जैन दर्शन : मनन और मीमांसा
- घट-घट दीप जले
- अणुव्रत दर्शन
- जैन दर्शन और अनेकान्त
- भिक्षु विचार दर्शन
- समय के हस्ताक्षर
- गूंजते स्वर : बहरे कान
- बन्दी शब्द : मुक्त भाव
- संभव है समाधान
- अर्हम्
- शक्ति की साधना

आदि-आदि